श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० २

श्रीपरमपूज्य, तपोनिधि, विद्वच्छिरोमणि

स्व० आचार्य श्रीकुन्थुसागरविरचित

भावत्रयफलप्रदर्शी

प्रकाशकः—

श्रीमान धर्मनिष्ठ

सेठ मगनमलजी हीरालालजी पाटनी,

मदनगंज (किशनगढ़)

द्वितीयावृत्ति	वीर संवत्	मूल्य
१०००	२४७२	परिणामशुद्धि

श्रीपरमपूज्य. तपोनिधि, विश्ववंद्य, स्व० आचार्य

श्री कुन्थुसागरजी महाराज.

श्रीपरमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, विश्ववंद्य तपोनिधि स्व० श्रीआचार्य कुंथुसागर महाराज का परिचय ।

श्रीपरमपूज्य, विश्ववंद्य आचार्य श्री कुंथुसागर महाराज का परिचय आज देने की आवश्यक्ता नहीं है । कारण वे अपनी प्रतिभाशाली विद्वत्ता, अगाध ज्ञान, निर्मल चारित्र व घोरतर तपश्चर्या से लोकविख्यात हुए हैं । तथापि प्रस्तुत पुस्तक पूज्य श्री के द्वारा विरचित होनेके कारण उनके संबंधमें कुछ भी लिखना आवश्यक है । अतः यहां संक्षेप से लिखा जाता है ।

आपकी जन्मभूमि कर्नाटक प्रांत है जिसे पूर्व में कितने ही महर्षियों ने अलंकृत कर जैन धर्म का मुख उज्वल किया था ।

कर्नाटक प्रांत के ऐश्वर्यभूत बेलगाम जिले में ऐनापुर नामक सुन्दर ग्राम है । वहांपर चतुर्थकुलमें ललामभूत अत्यन्त शांतस्वभाव वाले सातप्पा नामक श्रावकोत्तम रहते हैं । आपकी धर्मपत्नी साक्षात् सरस्वतीके समान सद्गुणसंपन्न थी, इसलिये सरस्वतीके नामसे ही प्रसिद्ध थी । सातप्पा व सरस्वती दोनों अत्यंत प्रेम व उत्साहसे देवपूजा, गुरूपास्ति आदि सत्कार्यमें सदा मग्न रहते थे । धर्मकार्यको वे प्रधान कार्य समझते थे । उनके हृदय में आंतरिक धार्मिक श्रद्धा थी । श्रीमती सौ.सरस्वतीने वीर सं.२४२० कार्तिक शु. २ को एक

पुत्र-रत्न को जन्म दिया। इस पुत्र का जन्म शुक्लपक्ष की द्वितीयाको हुआ। इसलिये शुक्लपक्षके चन्द्रमा के समान दिन पर दिन अनेक कलावोंसे वृद्धिंगत होने लगा। माता पिताओं ने पुत्र का जीवन सुसंस्कृत हो इस सुविचार से जन्मसे ही आगमोक्त संस्कारों से संस्कृत किया। जातकर्मसंस्कार होनेके बाद शुभ मुहूर्तमें नामकरण संस्कार किया गया जिसमें इस पुत्र का नाम **रामचंद्र** रखा गया। बादमें चौलकर्म, अक्षराभ्यास, पुस्तकग्रहण आदि संस्कारोंसे संस्कृत कर सद्विद्या का अध्ययन कराया। रामचंद्र के हृदयमें बाल्यकाल से ही विनय, शील व सदाचार आदि भाव जागृत हुए थे जिसे देखकर लोग आश्चर्य व संतुष्ट होते थे। रामचन्द्र को मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान ही बाल्यावस्था में साधु संयमियों के दर्शनमें उत्कट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुर में आते तो यह बालक दौड़कर उनकी वंदनाके लिये पहुंचता था। बाल्यकालसे ही हृदय में धर्म में अभिरुचि थी। सदा अपने सहधर्मियों के साथ में तत्वचर्चा करने में ही इसका समय बीतता था। इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुए। अब मातापितावों ने रामचन्द्र को विवाह करनेका विचार प्रगट किया। नैसर्गिक गुणसे प्रेरित होकर रामचन्द्रने विवाहके लिये निषेध किया एवं प्रार्थना की कि पिताजी! इस लौकिकविवाहसे मुझे संतोष नहीं होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात मुक्ति लक्ष्मी के साथ विवाह कर लेना चाहता हूं। मातापितावोंने आग्रह किया कि पुत्र! तुम्हें लौकिक विवाह भी करके हम लोगों की आंखों को तृप्त करना चाहिये। माता पितावों के आज्ञोल्लंघन भय से इच्छा न होते हुए भी रामचंद्र ने विवाह की

स्वीकृति दी । मातापितावों ने विवाह किया । रामचन्द्र को अनुभव होता था कि मैं विवाह कर बड़े बंधन में पड़ गया हूं ।

विशेष विषय यह है कि बाल्यकाल में संस्कारों से सुदृढ़ होने के कारण यौवनावस्थामें भी रामचन्द्रको कोई व्यसन नहीं था। व्यसन था तो केवल धर्म चर्चा, सत्संगति व शास्त्रस्वाध्यायका था। बाकी व्यसन तो उससे घबराकर दूर भागते थे। इस प्रकार पच्चीस वर्ष तक रामचंद्र ने किसी तरह घर में वास किया, परन्तु बीच २ में मनमें यह भावना जागृत होती थी कि भगवन्! मैं इस गृहबंधन से कब छूटूं। जिन दीक्षा लेनेका भाग्य कब मिलेगा? वह दिन कब आवेगा जब कि सर्वसंगपरित्याग कर मैं स्वपर कल्याण कर सकूं।

रामचन्द्र के श्वसुर भी धनिक थे । उनके पास बहुत संपत्ति थी । परंतु उनको कोई संतान नहीं थी । वे रामचंद्र से कई दफे कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरे तुम ही ले लो। मेरे यहां के सब कारोबार तुम ही चलावो । परंतु रामचंद्र उन्हें दुःख न हो इस विचार से कुछ दिन रहा भी, परंतु मन मन में यह विचार किया करता था कि मैं अपना भी घरबार छोड़ना चाहता हूं। इनकी संपत्ति को लेकर मैं क्या करूं। रामचंद्र की इस प्रकार की वृत्ति से श्वसुर को दुःख होता था । परंतु रामचंद्र लाचार था। जब उसने सर्वथा गृहत्याग करने का निश्चय ही कर लिया तो उनके श्वसुर को बहुत अधिक दुःख हुआ ।

दैवात् इस बीच में माता पितावोंका स्वर्गवास हुआ। विकराल काल की कृपासे एक भाई बहिनने भी विदाई ली । अब रामचंद्र

का चित्त और भी उदास हुआ। उसका बंधन छूट गया। अब संसार की अस्थिरता का उन्होंने स्वानुभव से पक्का निश्चय किया और उसका चित्त और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ।

इतनेमें भाग्योदय से ऐनापुर में प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद **आचार्य शांतिसागर** महाराजका पदार्पण हुआ। वीतरागी तपोधन मुनि को देखकर रामचंद्र के चित्तमें संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न होगई। प्राप्त सत्समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंने श्री आचार्य चरण में आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण किया।

सन् १९२५ फरवरी महीने की बात है। श्रवणबेलगुल महाक्षेत्र में श्री बाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था। इस महाभिषेक के समाचार पाकर ब्रह्मचारिजी ने वहां जाने की इच्छा की। श्रवणबेलगुल जाने के पहिले अपने पास जो कुछ भी संपत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया। एवं श्रवणबेल-गुलमें आचार्य शांतिसागर महाराज से क्षुल्लकदीक्षा ली। उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक **पार्श्वकीर्ति** रखा गया। ध्यान अध्ययनादि कार्यों में अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्र में आपने वृद्धि की व आचार्य चरण में ही रहने लगे।

आपके दीक्षित होने के बाद आपकी धर्मपत्निने अपने जीवन को गृहस्थाश्रम में ही धर्ममय व्यतीत किया।

चार वर्षबाद आचार्य पादका चातुर्मास कुंभोज (बाहुबलि पहाड़) में हुआ। इस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजी के चारित्र की निर्मलता को देखकर उन्हें ऐलक जो कि श्रावकपद में उत्तम स्थान है, उससे दीक्षित किया।

बाहुबलि पहाड़पर एक खाश बात यह हुई कि सं. शि. सेठ पूनमचंद घासीलालजी जौहरी मुंबईवाले आचार्यवंदनाके लिये आये और महाराज के चरणों में प्रार्थना की कि मैं सम्मेदशिखरजी के लिये संघ निकालना चाहता हूं। आप अपने संघ सहित पधारकर हमें सेवा करने का अवसर दें। आचार्य महाराजने संघ भक्त शिरोमणिजी की विनंति को प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभमुहूर्त में संघ ने तीर्थराजकी वंदना के लिये प्रस्थान किया। ऐल्लक पार्श्व-कीर्तिने भी संघ के साथ श्री तीर्थराजकी वंदना के लिये विहार किया। सम्मेदशिखर पर संघ के पहुंचने के बाद वहांपर विराट उत्सव हुआ। महासभा व शास्त्री परिषद के अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावर तीर्थों के साथ, जंगम तीर्थों का वहां पर एकत्र संगम हुआ था। वहां से संघ का विहार आरा, अलाहाबाद जबलपुर आदि स्थानों में हुआ।

संघ ने अनेक स्थानोंमें धर्मवर्षा करते हुए कटनीके चातुर्मास को व्यतीत किया। बाद में दूसरे वर्ष संघ का पदार्पण चातुर्मासके लिये ललितपुरमें हुआ। यों तो आचार्य महाराज के संघ में सदा ध्यान अध्ययनके सिवाय साधुओंकी दूसरी कोई दिनचर्या ही नहीं है। परंतु ललितपुर चातुर्माससे नियमपूर्वक अध्ययन प्रारंभ हुआ। संघ में क्षुल्लक ज्ञानसागरजी जो बाद मुनिराज सुधर्मसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए थे, विद्वान व आदर्श साधु थे। उनसे प्रत्येक साधु अध्ययन करते थे। इस परिचय के नायक श्री ऐल्लक पार्श्व-कीर्ति ने भी उनसे व्याकरण, सिद्धांत व न्यायको अध्ययन करनेके लिये पढ़ना प्रारंभ किया।

आपको तत्वपरिज्ञानमें पहिले से अभिरुचि, स्वाभाविक बुद्धि तेज, सतत अध्ययनमें लगन, उसमें भी ऐसे विद्वान संयमी विद्यागुरुवों का समागम ! फिर कहना ही क्या ? आप बहुत जल्दी निष्णात विद्वान हुए। इस बीचमें सोनागिर सिद्धक्षेत्र में आपको श्री आचार्य महाराजने दिगंबर दीक्षा दी। उस समय आपको मुनि **कुंथुसागर**के नामसे अलंकृत किया। आपके चारित्रमें वृद्धि होनेके साथ ज्ञान में भी नैर्मल्य बढ़ गया। ललितपुर चातुर्मास से लेकर ईडर के चातुर्मासपर्यंत आप बराबर अध्ययन करते रहे। आप कितने ऊंचे दर्जे के विद्वान बन गए यह लिखना हास्यास्पद होगा। आपकी विद्वत्ता इसी से स्पष्ट है कि अब आप ने संस्कृतमें अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। कितने ही वर्ष अध्ययन कर बड़ी २ उपाधियों से विभूषित विद्वानको हम आपसे तुलना नहीं कर सकते। क्यों कि आपमें केवल ज्ञान ही नहीं अपितु चारित्र जो कि ज्ञान का फल है वह पूर्ण अधिकृत होकर विद्यमान था। इसलिये आपमें स्वपरकल्याणकारी निर्मल ज्ञान होनेके कारण आप सर्वजनपूज्य हुए। आपकी जिस प्रकार रचनाकला में विशेष गति थी, उसी प्रकार वक्तृत्वकलामें भी आपको पूर्ण अधिकार था। श्रोताओं के हृदयको आकर्षण करनेका प्रकार, वस्तुस्थितिको निरूपण कर भव्यों को संसारसे तिरस्कार विचार उत्पन्न करनेका प्रकार आपको अच्छी तरह अवगत था। आपके गुण, संयम आदि-कों को देखने पर यह कहे हुए बिना नहीं रह सकते कि आचार्य शांतिसागर महाराज ने आपका नाम कुंथुसागर बहुत सोच समझकर रखा था।

आपने अपनी क्षुल्लक व ऐल्लक अवस्था में अपनी प्रतिभासे बहुत ही अधिक धर्म प्रभावनाके कार्य किये। संस्कारों के प्रचार के लिये सतत उद्‌योग किया। करीब ३ लाख व्यक्तियों को आपने यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत किया। एवं लाखों लोगोंके हृदय में मद्य, मांस, मधुकी हेयता को जंचाकर त्याग कराया। हजारों को मिथ्यात्व से हटाकर सम्यग्मार्ग में प्रवृत्त कराया। मुनि अवस्था में उत्तर प्रांत के अनेक स्थानों में विहार कर धर्म की जागृति की। गुजरात प्रांत जो कि चारित्र व संयम की दृष्टि से बहुत ही पीछे पड़ा था उस प्रांत में छोटे से छोटे गांव में विहार कर लोगों को धर्म में स्थिर किया। गुजरात के जैन व जैनेतरों के मुख से आपके लिये आज यह उद्‌गार निकलता है कि "साधु हो तो ऐसे ही हों" बड़े २ राजा महाराजाओं पर भी आपके उप-देश का गहरा प्रभाव पड़ा था।

राज-सन्मान

पूज्यश्री के दिव्यविहारसे लाखों प्राणियों का उद्धार हुआ और दिगंबर साधुओं के आदर्शवृत्ति से प्रत्येक स्थान के लोग प्रभावित हुए। इतना ही क्यों गुजरात प्रांत के अनेक छोटे बड़े संस्थानों के अधिपति आचार्यश्री के परमभक्त थे। सदा आपके दर्शनों के लिये उत्सुक रहते थे।

सुदासना, टींबा, अलुवा, माणिकपुरा, मोहनपुरा, वडासन, पेथापुर, ओरान, देलवाड़ा, आदि छोटे बड़े संस्थानों के अधिपति आपके परमभक्त हैं। गत दिनों में जब आपके संघ का पदार्पण

बड़ौदा राजधानी में हुआ था उस समय राजकीय लवाजमे के साथ बहुत ही वैभव से आपके संघका स्वागत किया गया और राज्य के न्यायमंदिरमें कई हजार जनता व दिवान साहेब श्री सर कृष्णमा-चारीकी उपस्थिति में जो आपका गंभीर तत्वविवेचनपूर्ण भाषण हुआ वह सुवर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। वहांपर सर्व जनसाधारण पर उस समय दि० जैन मुनियोंके महत्व का काफी प्रभाव पड़ा इसी प्रकार कई स्थानों में आपक सार्वजनिक हित के तत्वोपदेश हुए हैं। कई वर्षों से आपने गुजरातमें छोटे बड़े गांवों में विहारकर धर्मप्रभावना की है। गत तारंगा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के विराट उत्सव में श्री आचार्य शांतिसागरजी (छाणी) ने चतुस्संघ के अनुरोध से आपको आचार्य पदवी से अलंकृत किया था। अनेक संस्थान के अधिपतियों ने आपकी विद्वत्ता व निर्मलचारित्र से प्रभावित होकर अपने राज्य में अहिंसादिनको मनाने की प्रतिज्ञा की है, व आचार्य श्री के जयंतीदिन को मनाने की अपने राज्य में घोषणा की है।

सुदासना, सिरोही, कल्याणपुर, डूंगरपुर आदि राज्यों में अहिंसा दिनकी घोषणा हो चुकी है। टींवा दरबार ने वर्ष में २२ दिन अहिंसा दिन की घोषणा की है। यह आपश्री का ही प्रभाव था।

इस प्रकार पूज्यश्री सर्वजन पूज्य हुए। लोग आपके सातिशय तपःप्रभाव से अत्यधिक प्रभावित हुए। आपने इस प्रकार लाखों प्राणियों का उद्धार कर दिगम्बर जैन धर्म की अभूतपूर्व प्रभावना की। इतिहास युग के वृत को देखने पर मालुम होता

है कि प्रत्येक धर्म की ऊर्जित अवस्था किसी न किसी प्रभावशाली सत्ताधारीके आश्रयके मिलने पर हुई है। राजाश्रय से विशेष कार्य होते हैं। राजा सन्मार्ग में प्रवृत्ति करें तो प्रजायें भी राजा का अनुसरण करती हैं। इसलिये आवश्यक्ता इस बातकी है कि भारत के पुनरुद्धार के लिये भारतके छोटे मोटे शासक राजा अहिंसाधर्म के उपासक बन। हजारों सामान्यजनोंके उद्धारसे वह कार्य नहीं हो सक्ता है जो एक प्रभावशाली सत्ताधारीके उद्धारसे होसक्ता है। हर्ष है कि आचार्य श्री के द्वारा ऐसे अनेक सत्ताधीश राजावों का उद्धार हुआ व वे आपके चरणों के भक्त बने।

आचार्यश्री उद्भट विद्वान थे। आप जहां पधारते थे वहांकी भव्य जनताको आपके उपदेशसे यथेष्ट लाभ होता ही था। परंतु भारतवर्ष के समस्त भव्यों को आपके ज्ञानका उपयोग हो एवं चिरकालतक वह विद्यमान रहे इस हेतु से भव्योंके उद्धार करने वाले अनेक ग्रन्थोंका निर्माण पूज्यश्रीके द्वारा हुआ। यह सचमुचमें परम सौभाग्य का विषय है।

इससे सहज मालुम हो सकताहै कि आचार्यश्री से किस प्रकार लोकका उद्धार हुआ। आप जिस प्रकर ओजस्वी वक्ता थे उसी प्रकार उद्भट लेखक भी थे, अतएव आपने सर्व जनोपकार करने योग्य साहित्य का निर्माण किया।

ग्रन्थ निर्माण

पूज्यश्रीने अपने विद्वत्ताके बलसे अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया आपकी वीतरागवृत्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि आप दिनमें घंटों मौनव्रत में रहते थे। केवल आत्मकल्याणेच्छु भव्योंके हितके लिये एक घंटा धर्मोपदेश देते थे व तत्वचर्चा शंका-समाधान आदि करते थे। बाकी चर्या, अल्पशयन, व ध्यान अध्ययन को छोड़कर अन्य सयय में मौनमें रहकर आप ग्रन्थनिर्माण करते थे।

चतुर्विंशतिजिनस्तुति, शांतिसागरचरित्र, बोधामृतसार, निजात्मशुद्धिभावना, मोक्षमार्गप्रदीप, ज्ञानामृतसार, लघुबोधामृतसार लघुज्ञानामृतसार, स्वरूपदर्शनसूर्य, नरेशधर्मदर्पण, सुधर्मोपदेशामृत-सार, श्रावकप्रतिक्रमणसार, शांतिसुधासिंधु, स्वानंदसाम्राज्यपद-प्रदर्शी, लघुसुधर्मोपदेशामृतसार, लघुप्रतिक्रमण, सुवर्णसूत्र सत्यार्थ-दर्शन आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ आप पूज्यश्रीके ही परिश्रमके फल हैं।

आप ग्रन्थरचना अपनी अगाध विद्वत्ता द्वारा लीलामात्रसे करते थे। निर्मलचारित्र के द्वारा प्राप्त आपका क्षयोपशम इतना प्रबल था कि वे भाषण देते देते श्लोक तत्काल बनाकर बोलते थे। आपके भाषण का प्रारंभ तो देव भाषा से ही होता था।

आपके द्वारा निर्मित ग्रंथों को भारतवर्ष के समस्त प्रांतों में बहुत ही चावसे बांचते हैं। नीतिबोध व धर्म रहस्य उनके ग्रन्थोंमें कूटकूट कर भरे हुए हैं। आध्यात्मिक विचार व धर्माराधना की

समीचीन शिक्षा आचार्यश्रीके ग्रन्थों से यथेष्ट मिलती है। आपके विशिष्ट क्षयोपशमके लिये यही पर्याप्त साक्षीहै कि थोड़े ही दिनोंके अंदर आपके द्वारा करीब ४० ग्रन्थों से भी अधिक कृतियों की रचना हुई। आपके ग्रन्थों को एकदफे स्वाध्याय के लिये लेने पर छोड़नेको जी नहीं चाहता। इस प्रकार पूज्यश्री लोकवंद्य गुरु हैं। आपके द्वारा लोकका जो सीमातीत उपकार हुआ उसे हम इस मर्यादित लेखनी से वर्णन नहीं कर सकते हैं। वह सच मुच में अनुभवगम्य हैं। ऐसे साधुपुरुषोंसे ही यथार्थ में विश्वका उद्धार होता है। चारित्र के मार्गका उद्‌योत होता है।

पूज्यश्री ने अल्प समयमें ही अपनी प्रचुर विद्वत्ता व वर्द्धमान चारित्र की विशुद्धि द्वारा धर्मकी अलौकिक प्रभावना की, उनका दृढ़ निश्चय था कि जैन धर्म को विश्वधर्म सिद्ध किया जाय। उनकी अलौकिक प्रतिभासे क्या हिंदू, क्या मुसलमान, क्या जैन, जैनेतर सभी प्रभावित थे। परंतु खेद है कि ऐसे महापुरुष को विकराल काल उठाकर ले गया, समाधिके अंतिम समय तक उनके चित्त में विशिष्ट नैर्मल्य था। अपने आत्मोत्थ विशिष्ट ज्ञान के द्वारा उन्होंने अपने अंतिम समयको ही निश्चितरूप से जान लिया था, ऐसे लोकातिशायी प्रभाव को धारण करनेवाले आचार्य निकटभविष्यमें होंगे यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। आचार्य श्री ने भव्योंके उपकारार्थ अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया। आज उनकी स्मृति केवल इन ग्रन्थोंके स्वाध्यायके रूपमें ही रह गई है।

उनके परोक्षमें भी भव्यगण उनके द्वारा अपना आत्महित साध रहे हैं। उस आत्माकी विश्वोद्धारकी भावना अवश्य सफल होगी।

गुरुचरणसेवक—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति)

मंत्री—आचार्य श्रीकुंथुसागर ग्रंथमाला

श्रीमान् धर्मनिष्ठ सेठ मगनमलजी साहेब पाटनी
मारोठ

श्रीमान् धर्मनिष्ठ रा. ब. सेठ हीरालालजी साहेब पाटनी

मारोठ

प्रकाशक परिवार

परिचय

इस ग्रन्थकी यह द्वितीयावृत्ति है। इसे मारोठके धर्मनिष्ठ पाटनी परिवारने प्रकाशित कराया है। उक्त परिवार के आबालवृद्ध की आचार्यवर्य के प्रति असाधारण भक्ति है। उनके दर्शनके लिये जाकर कई २ दिन उनकी सेवा-वैयावृत्य में वे लगे रहते थे। उसी गुरुभक्ति से प्रेरित होकर इस ग्रन्थका प्रकाशन भव्यजनोंके हितार्थ कराया है। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिए उनका यहां पर संक्षिप्त परिचय कराना आवश्यक है।

मारोठ (मारवाड़) के सुप्रसिद्ध धर्मनिष्ठ सेठ श्री मगनमलजी, रा० ब० सेठ हीरालालजी पाटनी, व इनके सुपुत्र कुँवर नेमीचन्दजी से समाज अच्छी तरह सुपरिचित है। आप जाति-शिरोमणि धर्मवीर रा० ब० केप्टिन सर सेठ श्री० भागचन्दजी साहेब सोनी नाइट, O B E., अजमेर के आगरा की सुप्रसिद्ध फर्म (रा० ब० सेठ मूलचन्दजी नेमीचन्दजी) व कोटा स्टेट की दी कोटा मैच फैक्टरी व रा० ब० सेठ टीकमचन्द भागचन्द लि० किशनगढ़के पार्टनर हैं, तथा कई व्यवसायिक कारखानों, फर्मोंके मालिक और संचालक हैं, व अन्य कई लिमिटेड कंपनियोंके डाइरेक्टर हैं।

(१) **सेठ मगनमलजी पाटनी**—आप धर्मनिष्ठ व गुरुभक्त सज्जन हैं। अत्यन्त सरल परिणामी व शांत प्रकृतिके हैं। आगरामें आप रा० ब० सेठ मूलचन्द नेमीचन्द सोनी फर्मके प्रधान व्यवस्थापक व पार्टनर हैं। आप सामाजिक व धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देते रहते हैं। अभी हाल समाज प्रसिद्ध गोपाल दि० जैन सिद्धांतविद्यालय मोरेना के अधिष्ठाता पदमें निर्वाचित हुए हैं। इसी से आपकी महत्ता स्पष्ट है। आपने व आपकी धर्मपत्नी ने आजन्म शूद्रजलका त्याग १५ वर्ष पहलेसे कर दिया है। आपकी अटूट धर्मभक्ति आपकी धार्मिक श्रद्धाकी परिचायक है। वर्तमानमें आप जैन समाजके सुप्रसिद्ध दानवीर रा० व० सर सेठ टीकमचन्दजी भागचन्दजी सोनी किशनगढ़ के पार्टनर हैं. दी महाराजा किशनगढ़ मिल्स लिमिटेड व रा० ब० सेठ टीकमचन्द भागचन्द लि० के डाइरेक्टर हैं, व बड़ी तादाद के शेयर होल्डर हैं।

(२) **रा० ब० सेठ हीरालालजी पाटनी**—आप धर्मनिष्ठ, समाजसेवी, कुशल उद्योग प्रिय हैं। समाजमें धर्मपक्षके कट्टर पोषक हैं। धार्मिक पक्ष के प्रति आपत्ति आने पर सदा दूर करनेमें तत्पर रहते हैं। श्री धर्मवीर रा० ब० केप्टेन सर सेठ भागचन्दजी सोनी साहबके साथ महाराजा किशनगढ़ के मिल की व्यवस्था को अपने हाथ में लेकर उसमें उल्लेखनीय प्रगति की है। आपकी राज्यनिष्ठता, दूरदर्शिता व लोकप्रियताको देखकर भारत-सरकारने आपको अभी हाल 'राय बहादुर' इस उपाधिसे सम्मानित किया

है। आपकी गुरुभक्ति श्लाघनीय है। आजकल आप दी महाराजा किशनगढ़ मिल्स लिमिटेड के डिप्टी मैनेजिंग डाइरेक्टर व सेठ गम्भीरमल पांड्या लि० किशनगढ़ के डिप्टी मैनेजिंग डाइरैक्टर हैं। मलकापुर तेल मील, दिल्ली की दी महावीर काटन स्पिनिंग एण्ड वीविंग कं० लिमिटेड के संचालक हैं। दी चेम्बर आफ कामर्स लिमिटेड मदनगंजके चेयरमैन व अपनी श्री भा० दि० जैन खंडेलवाल महासभाके उपसभापति व भा० दि० जैन महासभा के प्रवन्धकारिणी के मेम्बर हैं तथा आगरा जोन्स मिल कम्पनी की ४ मीलों के फाइनेंसियर्स के पार्टनर हैं।

(३) **श्री कुँ० नेमीचन्दजी पाटनी**—आप कोमल परिणामी, गुरुभक्त व धर्मनिष्ठ युवक हैं। आप व्यापार व उद्योग में जिस प्रकार कुशल हैं उससे कहीं अधिक धार्मिक व सामाजिक कार्यों में भी दत्तचित्त हैं। लक्ष्मीका संचय केवल आपके जीवन का ध्येय नहीं है। लक्ष्मी-पुत्र होकर भी आप सरस्वती पुत्र होने के लिये सर्वथा योग्य हैं। शिक्षण क्षेत्र में आप दिलचस्पी लेते रहते हैं। आपकी ओर से समाज में अनेक बार शिक्षाकी उपयुक्त रूपरेखायें सामने आचुकी हैं। किशनगढ़ और मारोठकी अनेक शिक्षण संस्थायें आपके ही संचालकत्व में सुयोग्यरूपसे कार्य कर रही हैं। आपको जैन संसार में शिक्षणकी तेजःपूर्ण प्रगति देखनेकी हार्दिक कामना है। आप स्वयं स्वाध्याय प्रेमी हैं। गुणगुरुओं के प्रति आपके हृदय में विशिष्ट आदर है। तत्वाभ्यास के प्रति विशेष अभिरुचि है। समय समय पर आपकी जटिल शङ्कायें निकलती

हैं। आपकी सात्विक एवं धार्मिकवृत्ति युवकोंके लिये आदर्श है। आप पर समाजको अभिमान है। भविष्यमें बड़ी २ आशायें हैं।

आपने तृष्णा को घटाकर अपने जीवन को आदर्श बनाया है। धार्मिक भावना से प्रेरित होकर लोभ कषाय को मन्द करके डेढ़ लाख रुपया सहर्ष श्री मगनमल हीरालाल दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट में प्रदान करके अपनां दानशीलता का परिचय दिया है। खुदके लिये सिर्फ बीस हजार का परिमाण करके बाकी रुपये का त्याग कर दिया है, यह आपके अंतरंग परिणामों की निर्मलता का द्योतक है। समाजके होनहार नवयुवकों को आपके इस त्यागसे अवश्य कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

आपकी कार्यदक्षता एवं कुशाग्रबुद्धि देखकर ट्रस्ट के मेम्बर साहिबान ने ट्रस्ट का मन्त्री व प्रबन्धकारिणी-कमेटी ने आपको महामन्त्री नियुक्त किया है आप ट्रस्ट के अंतर्गत चलनेवाली संस्थाओं की पूर्ण देख रेख रखते हैं। और उनकी उन्नतिके सदुपाय सोचते रहते हैं। आप दी महाराजा किशनगढ़ मिल्सके मैनेजिंग एजेन्ट के डाइरेक्टर तथा मदनगंज में सेठ गंभीरमल पांड्या लिमिटेडके डाई-रेक्टर हैं, और आचार्य कुंथुसागर दि० जैन मैट्रिक स्कूल व श्री चन्द्रसागर दि० जैन औषधालय, श्री टीकम जैन कन्या पाठ-शाला, स्वयं सेवक मण्डल, दि० जैन भजन मण्डली आदि कई संस्थाओं के उपसभापति हैं।

(४) **श्री कुँ० सौभागमलजी पाटनी**—आप अपने पिता के अनुरूप ही शांत प्रकृतिक व सात्विक स्वभाव के

होनहार युवक हैं सदा देव पूजादि सत्कार्योंमें अभिरुचि रखते हैं। आप भी स्वयं स्वाध्याय प्रेमी हैं। आपने अभी स्वाध्याय प्रचारमें विशेष अभिरुचि दिखलाई है इससे आपकी धार्मिक लगन स्वतः प्रतीत होती है। वर्तमान में आप आगरा जोन्स मिल कम्पनीकी मिलोंके फाइनेंसियर्स के पार्टनर हैं।

आप श्री० मगनमल हीरालाल दि० जैन पा० ट्रस्ट के व प्रबंधकारिणी कमेटी के उपमन्त्री हैं व आगरे में श्री दि० जैन-सेवा संघ व महावीर वाचनालय के सभापति व अन्य कई संस्थाओं के कार्यकर्त्ता हैं।

(५) **श्री कुँ० जयकुमारजी पाटनी**—आप होनहार अपने पिताजी के समान, साहसी, तीक्ष्ण बुद्धिवाले नवयुवक हैं। देव पूजन, स्वाध्यायादि आप प्रतिदिन करते हैं। तत्व चर्चा का भी शौक है।

(६) **श्री कुँ० निर्मलकुमारजी पाटनी**—आप अच्छी बुद्धिवाले, सुन्दर, पढ़ने-लिखने में चतुर एवं गुणग्राही हैं। छोटीसी अवस्था में मैट्रिक कक्षा में पढ़ रहे हैं। और घर पर धार्मिक शिक्षा पाते हैं।

दान।

श्री० सेठ मगनमलजी हीरालालजी व आपके सुपुत्र नेमीचंदजी साहेब पाटनी ने संसार, शरीर, धन, ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता भली भांति समझकर वीर निर्वाण संवत् २४७१ में मारवाड़ प्रांत मे सर्व प्रथम ५०००००) पांच लाख रुपये का सबसे बृहत्त दान

देकर श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट स्थापित कर उसकी रजिस्ट्री ता० २४–११–४४ को कराकर एक महान आदर्श उपस्थित किया है। इस ट्रस्ट के अन्तर्गत श्री पाटनी दि० जैन औषधालय, बोर्डिंग हाउस, विधवा असहाय सहायक फण्ड, छात्रवृत्ति फण्ड, लाईब्रेरी, मगनबाई धर्मादा फण्ड, मारोठ, श्री कलावतीबाई दि० जैन कन्या पाठशाला आगरा, श्री पाटनी दि० जैन श्राविकाश्रम मदनगंज, व श्री कलावती बाई कन्या पाठशाला व दि० जैन औषधालय कॉमा हैं। इनके अतिरिक्त जीर्णोद्धार फण्ड, जीवदया फण्ड, विद्याप्रचार व जनरल फण्ड आदि अन्य समाजोपयोगी फण्ड स्थापित किये हैं, जिनके द्वारा जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार हो रहा है। इतना ही नहीं वरं आप लोगों ने अपनी आजीवन कुल आमदनी में से ६। सवाछह प्रतिशत इस ट्रस्ट के कार्यों में देते रहने का संकल्प कर अपनी उदारता एवं दान में चार चांद लगा दिये हैं। वस्तुतः आपकी दानवीरता श्लाघनीय आदर्श तथा अनुकरणीय है।

इस प्रकार उक्त धार्मिक परिवार की सद्भावना प्रकृत ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। अतएव उक्त सज्जनोंको हम कोटिशः धन्यवाद अर्पण करते हैं। एवं भगवंत से प्रार्थना है कि उक्त प्रकार की सुखसमृद्धि दिन पर दिन वृद्धिंगत हो एवं उनका आयु, स्वास्थ्य, वैभव व यश बढ़ता ही रहे।

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री,
मंत्री, श्री कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर।

आद्य निवेदन !
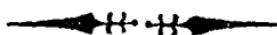
आज यह ग्रन्थ आपके सन्मुख उपस्थित करते बहुत संकोच अनुभव हो रहा है क्योंकि कई एक कारणों से इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुत विलम्ब हो चुका है यहां तक कि इस ग्रन्थ के रचयिता तथा प्रकाशन कराने के मूल कारण परम पूज्य श्री १०८ आचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराज भी आज इस धरातल पर विद्यमान नहीं रहे। उन आचार्यवर के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाना है क्यों कि प्रस्तुत ग्रंथ ही उनकी विद्वत्ता वैराग्यता, आत्मज्ञतां आदि गुणों को प्रकाशित कर रहा है तथा जो व्यक्ति कभी भी उनके निकट संपर्क में आया होगा वह तो अपने जीवन में उस आत्मा को कभी नहीं भुला सकेगा यह तो निश्चित है। पूज्य आचार्यवर के दर्शनों का चिर उत्सुक मैं अपने पूज्य पिताजी व पूज्य माताजी के साथ फाल्गुण शुक्ला सं० २००० में अष्टान्हिकापर्व का परमलाभ उठाने की गर्ज से खांदू (वांसवाड़ा) पूज्य महाराज श्री की सेवा में पहुंचा रास्ते में हम जैसे २ नजदीक पहुँचते जाते थे अनेक महाराज श्री के दर्शनार्थियों से परिचय मिलता जाता था।

रास्ता बहुत विकट व कठिन (रेल स्टेशन से मील लारी से वांसवाड़ा तथा वहां से भी कई नील बैलगाड़ियों में पहाड़ों आदि

में जाना पड़ता था) होते हुए भी खांदू में आचार्य श्री के भक्तों के आने का तांता लगा रहता था। जबतक हम वहां रहे कोई दिन भी दर्शनार्थियों के आगमन से खाली नहीं गया होगा, उत्तर प्रान्त पंजाब, गुजरात, राजपूताना, दक्षिण प्रांत आदि भारत के हर एक कोने से दर्शनार्थी चले आते थे दिगंबर जैनियोंके अलावा श्वेताम्बर, वैष्णव, राजपूत, ब्राह्मण, व मुसलमान तक महाराजजी के उपदेशों का लाभ लेने के लिये दूर दूर से चले आते थे एक दिन का दृश्य मुझे पूर्ण याद है कि एक मुसलमान भाई मंदिर में बाहर महाराज श्री विराजे हुए थे वहां आया और भक्ति के कारण अत्यन्त गद्गद् होकर आंखों से आंसू टपकाते हुए बोला, महाराज मैं कैसा भाग्यहीन हूं जो ऐसे जात में पैदा हुवा हूं जो आपके चरण भी नहीं छू सकता। ऐसा भाग्य मेरा कब होगा जब मैं आपके चरण छू सकूंगा। महाराजश्रीने आदेश किया कि तुम मांस मदिरा (जो वह पहले ही त्याग कर चुका था) जीव घात करना छोड़ दो तुम स्वयं ही हमारे समान बन सकते हो इस जन्म में नहीं बन सके तो अगले में तो जरूर हो जावोगे इत्यादि। वहां का राज्य परिवार तो महाराज श्री का परम भक्त था रोजाना आहार के समय राज्य प्रासाद से महाराजजी को आहार में देने के लिये उत्तम २ फल जहां महाराज का आहार होता था वहां पर भेजे जाते थे, महाराजश्री के उपदेश के समय राज्य परिवारसे कोई न कोई उपदेश लाभ लेने आते ही रहते थे। एक दिन खांदू के महाराज ने आचार्य श्री का पदार्पण अपने राज्यप्रासाद में कराया

उसी दिन राज्य प्रसाद ऐसा सजाया गया था मानो कोई विवाहोत्सव ही हो तथा राजकीय लवाजमें से नंगे पैर से महाराज आचार्य श्री को अपने राज्य महल में ले गये और वहां आचार्य श्री का उपदेश हुवा उस समय खांदू नरेश के जो उल्लास भरे हृदय से निकलते शब्द थे वो उनकी भक्ति का परिचय दे रहे थे तथा उस हर्ष में उन्होंने अपनी तरफ से आचार्य महाराजकी कृति नरेश धर्म दर्पण छपाने का ऐलान तथा अपने राज्य में महाराज श्री के राजमहल में पधारने के दिन तथा जन्म दिन तथा और भी कई दिन के लिये पूर्ण अहिंसा पालने का ऐलान किया इसके अलावा अनेक राज्यों में आचार्य महाराज के द्वारा इसी प्रकार धर्म का उद्योत हुवा जिसका परिचय आचार्य महाराज की जीवनी में दिया गया है।

प्रकाशन का कारण

इन्हीं दिनों सौभाग्य से हमारे को परमपूज्य आचार्य महाराज का आहार दान का परम लाभ प्राप्त हुवा उस समय पूज्य पिताजी व माताजी ने इस ग्रन्थ की ५०० प्रती छपाकर प्रकाशित करने के भाव व्यक्त किये तथा यहांकी संस्थावों तथा परम पूज्य आचार्य श्री कुन्थसागर ग्रन्थमाला को ? दान किया बादमें पूज्य मुनिराज श्री १०८ आदिसागरजी महाराज को ३ दिन के उपवास का पारना हुवा उस दिन उक्त ग्रन्थ की ५०० के वजाय १००० प्रती छपाने का निश्चय किया उसही के फलस्वरूप यह पुस्तक आज प्रकाशित होकर आपके समक्ष उपस्थित है।

देरी का कारण

उक्त ग्रन्थ में पूज्य आचार्य महाराज की ऐसी इच्छा थी कि अगर इसकी संस्कृत और अंग्रेजी टीका भी होकर साथ छप जावे तो यह ग्रन्थ उक्त भाषा भाषियों के लिये भी उपयुक्त सिद्ध हो अतः उसकी तैयारी की कोशिश में काफी समय चला गया फिर देरी होने के कारण हमने माननीय पं० वर्द्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री से पत्रव्यवहार कर यह निर्णय किया कि यह तो प्रति है जैसी ही छपादी जावे और तैयार होने पर अंग्रेजी संस्कृत टीका को अलग छपाया जा सकता है अतः इस पुस्तक का कार्य हाथ में लिया गया। जब यह ग्रन्थ प्रेस में गया तो जैसा टाइप चाहिये था वैसा हमारे प्रेस में न होने से वह टाइप मंगाने में युद्ध के कारण काफी समय लगा तथा कागज भी पूरा नहीं मिल सका, इन ही सब कारणों में काफी विलंब हो गया इस ही बीच में पूज्य आचार्यवर का स्वर्गारोहण हो गया। बाद में पुस्तक छप कर भी तैयार हो गई तो पूज्य आचार्य महाराज की जीवनी आदि सामग्री माननीय पंडित वर्द्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री के दौरे आदि में चले जाने से न मिलने के कारण तैयार पुस्तक भी प्रगट नहीं हो सकी अस्तु क्षमा याचना है।

आभार

इस ग्रन्थके प्रकाशन में माननीय पं० वर्द्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री शोलापुर सुयोग्य (आन०) मंत्री श्री आचार्य कुंथसागर ग्रन्थ-

माला की पूर्ण प्रेरणा व सहयोग मिला आपने ग्रन्थ की प्रेस कापी संशोधन करके भेजी तथा पूर्ण ग्रन्थ जैसे छपता जाता था आपको प्रूफ रीडिंग के लिये भेजा जाता था वह भी आप बराबर देखकर भेजते रहते थे और ग्रंथ की पूर्ण सामग्री आपकी ओर से पूर्ण परिश्रम के साथ साथ समय की समय पर मिलती रही इसके लिये मैं आपका पूर्ण आभारी हूं। हमारे दी महाराजा किशनगढ़ मिल्स प्रेस के सुयोग्य मैनेजर श्री नेमीचंदजी बाकलीवाल का मैं पूर्ण आभारी हूं जिन्होंने पूर्ण उपयोग लगाकर बहुत अच्छी तरह प्रूफ का संशोधन कार्य तथा छपाई की सुन्दर व्यवस्था आदि को बहुत अच्छे ढंग से तैयार कराया।

मुझे अत्यन्त दुःख अनुभव हो रहा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य श्री की समक्षता में प्रकाशित नहीं हो सका।

पाठकों से निवेदन है कि कहीं किसी प्रकार की अशुद्धि ग्रन्थ में मिले तो लिखने की कृपा करें ताकि आगामी सुधार हो सके।

नेमीचन्द पाटनी।

विषयानुक्रमणिका ।

विषय	श्लोक संख्या
मंगलाचरण	१
शोक का कारण	३
निर्धनता का कारण	४
अनादर का कारण	५
दुष्ट स्त्री प्राप्त होने का कारण	६
दुष्ट पति प्राप्त होने का कारण	७
मलमूत्रादिक में जन्म लेने का कारण	८
धन कुटुंब के त्याग न करने का कारण	९
अन्धे होने का कारण	१०
लूले लंगड़े अपांग होने का कारण	११
व्याध-योनि में जन्म लेने का कारण	१२
कुपुत्री प्राप्त होने का कारण	१३
ठग उत्पन्न होने का कारण	१४
बहरा उत्पन्न होने का कारण	१५
गूंगा होने का कारण	१६
धूर्त होने का कारण	१७
रोगी होने का कारण	१८
दुःखदायी कुटुंब की प्राप्ति का कारण	१९
दुष्ट स्वभाव होने का कारण	२०
भयभीत होने का कारण	२१

विषय

अशक्त होने का कारण	२२
कृपण होने का कारण	२३
मूर्ख होने का कारण	२४
पराधीन होने का कारण	२५
भोगोपभोग सामग्री के रहते भी उपभोग न करने का कारण	२६
कुरूप होने का कारण	२७
सुंदर पदार्थोंके रहते भी उपयोग-योग्य न होने का कारण	२८
क्रोधी होने का कारण	२९
निंदनीय होने का कारण	३०
आदर सत्कार प्राप्त न होने का कारण	३१
शस्त्रादिक से मरने का कारण	३२
चोर होने का कारण	३३
क्रियाहीन होने का कारण	३४
पुत्र वियोग का कारण	३५
भाइयों के विरोध का कारण	३६
माता और पुत्र के विरोध का कारण	३७
गर्भ में आये हुए भाग्यहीन पुत्र की पहिचान	३८
पिता-पुत्र के विरोध का कारण	३९
लंगड़ा होने का कारण	४०
नरक जाने का कारण	४१
छोटा वामन—शरीर धारण करने का कारण	४२

विषय	श्लोक संख्या
पशुयोनि प्राप्त करने का कारण	४३
कुभोगभूमि में उत्पन्न होने का कारण	४४
कुग्रामवासी होने का कारण	४५
व्यवहार शून्य होने का कारण	४६
अधिकान्नभोजी होने का कारण	४७
निर्धनता का अन्य कारण	४८
कुत्सितकाव्य में चतुरता का कारण	४९
अधिक भारवाही होने का कारण	५०
दीर्घायु पाकर भी महादुःखी होने का कारण	५१
नपुंसक होने का कारण	५२
विकलत्रय होने का कारण	५३
दास होने का कारण	५४
स्त्री पर्याय प्राप्त होने का कारण	५५
स्थावर शरीर धारण करने का कारण	५६
अंगहीन होने का कारण	५७
नीच कुल में उत्पन्न होने का कारण	५८
उच्च कुल में उत्पन्न होकर भी धनहीन होने का कारण	५९
जीविकाके लिये भ्रमण करने का कारण	६०
छलपूर्वक जीविका प्राप्त होने का कारण	६१
घर घर विकने वाला पशु होने का कारण	६२
एक साथ अनेक जीवों की मृत्यु का कारण	६३

विषय	श्लोक संख्या
स्त्री वा पुरुष को परस्पर देखने से कामोत्पत्ति का कारण	६४
क्रोध उत्पन्न होने का कारण	६५
एक साथ अनेक जीवों के रोगी होने का कारण	६६
रोग शांत न होने का कारण	६७
गर्भपात होने का कारण	६८
कुव्यसनों में धन खर्च होने का कारण	६९
सम्यग्ज्ञानमें रुचि न होने का कारण	७०
चाण्डाल के हाथ से मृत्यु होने का कारण	७१
मरकर कुत्ता होने का कारण	७२
मरकर बिल्ली होने का कारण	७३
सिंह पर्याय प्राप्त होने का कारण	७४
शृगालपर्याय प्राप्त होने का कारण	७५
शीलव्रतों को भंग करने का कारण	७६
गायकी पर्याय प्राप्त होने का कारण	७७
भैंसकी पर्याय प्राप्त होने का कारण	७८
बकरा होने का कारण	७९
कौवा होने का कारण	८०
दुष्ट होने का कारण	८१
व्यभिचारी होने का कारण	८२
पागल होने का कारण	८३
बंदीगृह में पड़ने का कारण	८४

विषय	श्लोक संख्या
उत्पन्न होते ही मरजाने का कारण	८५
निंदनीय होने का कारण	८६
अपमृत्यु होने का कारण	८७
धन घर आदि के जल जाने का कारण	८८
स्त्री पुत्रादिकके वियोग का कारण	८९
धन नाश होने का कारण	९०
कंठमाला होने का कारण	९१
ऊँट की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९२
हाथी की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९३
जोंक की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९४
उल्लू पक्षी की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९५
डांस मच्छर की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९६
सर्प की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९७
बिच्छू की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९८
चिड़िया की पर्याय प्राप्त होने का कारण	९९
तोते की पर्याय प्राप्त होने का कारण	१००
वृक्ष की पर्याय होने का कारण	१०१
मयूर की पर्याय प्राप्त होने का कारण	१०२
गीध की पर्याय प्राप्त होने का कारण	१०३
बंदर की पर्याय प्राप्त होने का कारण	१०४
साधर्मियों के साथ विवाद करने का कारण	१०५

विषय	श्लोक संख्या
राजाको रंक होनेका कारण	१०६
कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी प्रशंसा करनेका कारण	१०७
घर-गृहस्थीसे रहित होनेका कारण	१०८
कीड़े मकोड़ेकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण	१०९
शक्तिहीन होनेका कारण	११०
श्रेष्ठ-कार्य करनेपर भी निंदा होनेका कारण	१११
सत्कार्य करनेपर भी धनादिककी हानि होनेका कारण	११२
वर्षा न होनेका कारण	११३
पुण्य-कार्य करनेवालोंके साथ विरोध करनेका कारण	११४
विपरीतबुद्धि होनेका कारण	११५
इस अध्यायके पठनपाठनका अभिप्राय	११६
इस अध्यायका सारांश	११७
भावोंकी दुष्टता और चित्तके विकारोंका कारण	११८
इस अध्यायका उपसंहार	११९--२०

दूसरा अध्याय ।

शुभोपयोगका फल	१२१
सुपुत्रोंकी प्राप्तिका कारण	१२२
सुयोग्य धार्मिक पति प्राप्त होनेका कारण	१२३
सुपुत्री प्राप्त होनेका कारण	१२४
श्रेष्ठ पत्नी प्राप्त होनेका कारण	१२५
यशस्वी होनेका कारण	१२६

विषय	श्लोक संख्या
सुख देनेवाले कुटुम्बकी प्राप्तिका कारण	१२७
संयमी होनेका कारण	१२८
शोक रहित सुखी रहनेका कारण	१२९
अनेक जीवोंके स्वामी होनेका कारण	१३०
नीरोग शरीर प्राप्त होनेका कारण	१३१
नीतिमान् बलवान् होनेका कारण	१३२
समताभाव प्राप्त होनेका कारण	१३३
धर्मात्मा होनेका कारण	१३४
निर्मम होनेका कारण	१३५
उदार होनेका कारण	१३६
वक्ता होनेका कारण	१३७
स्वतन्त्र होनेका कारण	१३८
सुंदर शरीरकी प्राप्तिका कारण	१३९
संसारमें मान्य होनेका कारण	१४०
ज्ञानी व्रती होनेका कारण	१४१
भाई बन्धुओंमें प्रेम होनेका कारण	१४२
बिछुड़े हुए पुत्रकी प्राप्तिका कारण	१४३
पिता पुत्रके स्नेहका कारण	१४४
गर्भमें सुपुत्र होनेके चिह्न	१४५
इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्तिका कारण	१४६
देवपर्याय प्राप्त होनेका कारण	१४७

विषय	श्लोक संख्या
मनुष्य पर्याय प्राप्त होने का कारण	१४८
भोगभूमि में मनुष्य होने का कारण	१४९
आर्य खण्ड में उत्पन्न होने का कारण	१५०
अल्पभोजी होने का कारण	१५१
व्यवहार चतुर, होने का कारण	१५२
कवि होने का कारण	१५३
दीर्घायु पाकर भी सुखी होने का कारण	१५४
पूर्ण अंग-उपांग प्राप्त होने का कारण	१५५
श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होने का कारण	१५६
स्थिर जीविका प्राप्त होने का कारण	१५७
नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी धन राज्य आदि की प्राप्ति का कारण	१५८
सत्यता के साथ आजीविका चलने का कारण	१५९
अनेक जीवों के एक साथ सुखी होने का कारण	१६०
अनेक जीवों के एक साथ मोक्ष जाने का कारण	१६१
पशु पक्षी और मनुष्य में परस्पर प्रेम का कारण	१६२
दुःख में सहायक होने का कारण	१६३
धर्म में धन खर्च होने का कारण	१६४
श्रुतज्ञानी होने का कारण	१६५
शीलवान् होने का कारण	१६६
सर्वप्रिय होने का कारण	१६७

विषय	श्लोक संख्या
घर घर मंगल-गान होने का कारण	१६८
मिष्टवाणी प्राप्त होने का कारण	१६९
संतोष और शांति के लाभ का कारण	१७०
पापकार्यों से होने वाली धन वृद्धि का कारण	१७१-१७२
देवों के दास होने का कारण	१७३
खर्च करने पर भी धनकी वृद्धि का कारण	१७४
सर्वत्र कीर्ति फैलने का कारण	१७५
मनोज्ञ शरीर प्राप्त होने का कारण	१७६
श्रेष्ठ मनुष्यों में भी माननीय होने का कारण	१७७
पापानुबंधी पुण्य का कारण	१७८
पुण्यानुबंधी पुण्य का कारण	१७९
परस्पर शांति का कारण	१८०
सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होने का कारण	१८१
तीर्थंकर होने का कारण	१८२
अध्याय का उपसंहार	१८३

तीसरा अध्याय

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निरूपण	१८४-८५
अनुभूति के स्वामी होने का कारण	१८६
मन वचन काय की सरलता का कारण	१८७
मनःपर्यय ज्ञान का कारण	१८८
केवलज्ञान होने का कारण	१८९

विषय	श्लोक संख्या
आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अनुराग का कारण	१६०
स्वभाव से ही शुद्ध आत्मा में लीन होने का कारण	१६१
शुद्धाशुद्ध निश्चयनयसे सप्त तत्वों का निरूपण और सबसे शुद्ध आत्मा की भिन्नता तथा जीव तत्वका निरूपण	१६२
अजीवतत्व और आत्मा की भिन्नता	१६३
आस्रव तत्व और उससे आत्मा की भिन्नता	१६४
बंध तत्व और उससे आत्मा की भिन्नता	१६५
संवरतत्व और उससे आत्मा की भिन्नता	१६६
निर्जरातत्व और उससे आत्मा की भिन्नता	१६७
मोक्षतत्व और शुद्ध आत्मा की भिन्नता	१६८
सप्ततत्वों के कथन का उपसंहार	१६६
याचना करने पर भी स्वधनकी प्राप्ति न होनेका कारण	२००—१
शुद्ध चैतन्यस्वरूप सुख के विना समस्त क्रियाओं का निरर्थकपना	२०२-२१४
शुद्धोपयोगका विशेष वर्णन	२१५—१६
शुद्धोपयोगकी सिद्धि के लिये छहों द्रव्यों का निरूपण	२१७-२०
जीवों की अवगाहना	२२१-२२४
शुद्धोपयोगकी प्राप्ति के लिये स्वीकार करने योग्य धर्म	२२५-२७
शुद्धोपयोग के लिये विचार	२२८—२६
बाह्यपदार्थों के त्याग से लाभ का अभाव	२३०-३१
ध्याता ध्यान ध्येय में भेदाभेद	२३२

विषय	श्लोक संख्या
ध्याता ध्यान ध्येय का स्वरूप	२३३–३४
शुद्धोपयोग की भावना	२३५
शुद्धोपयोग धारण करनेवाला कुछ बोलता है या नहीं	२३६–३७
यथार्थ विजयी का स्वरूप	२३८-३९
आत्मा का आधाराधेय	२४०-४१
विश्वधर्म का निरूपण	२४२-४३
ध्यान का फल	२४४–४५
संक्षेपसे अशुभोपयोग शुभोपभोग और शुद्धोपयोगका फल	२४६–४९
ग्रंथ का सारांश	२५०–५१
ग्रंथ का उपसंहार	२५२
प्रशस्ति	२५३–२६०
अन्तिम मंगल	२६१

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला

उद्देश्य -परमपूज्य आचार्यश्री के द्वारा रचित ग्रन्थोंका प्रकाशन व प्रचार करना व अनुकूलताके अनुसार इतर प्राचीन जैन ग्रन्थों का उद्धार तथा प्रकाशन करना है।

सामान्य नियम

१. इस ग्रन्थमाला को जो सज्जन अधिक से अधिक सहायता देना चाहेंगे वह सहर्ष स्वीकार की जायगी।

२ जो सज्जन १०१) या अधिक देकर इस ग्रन्थमाला के स्थायी सभासद बनेंगे उनको ग्रन्थमाला से प्रकाशित सर्वग्रन्थ पोष्टेज खर्च लेकर विना मूल्य दिये जायेंगे।

३ जो सज्जन ५१) या अधिक देकर हितचिंतक बनेंगे उनको पोष्टेज व अर्धमूल्य लेकर प्रकाशित ग्रन्थ दिये जायेंगे।

४ जो सज्जन २५) या अधिक देकर सहायक बनेंगे उनको पोष्टेज व लागतमूल्य लेकर प्रकाशित ग्रन्थ दिये जायेंगे।

५ अन्य सज्जनों को निश्चित मूल्य से दिये जायेंगे।

६ ग्रन्थ के मूल्य से आई हुइ रकम का उपयोग ग्रन्थमाला के द्वारा प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों के उद्धार में ही होगा।

७. ग्रन्थमाला का ट्रस्टडीड होकर मुम्बई में रजिस्टर्ड हो चुका है।

सहायता भेजनेका पता—**सेठ गोविंदजी रावजी दोशी**
ठि० रावजी सखाराम दोशी, मंगलवार पेठ, **सोलापुर**

ग्रन्थमालासंबंधी सर्व प्रकारका पत्रव्यवहार नीचे लिखे पतेपर करें

वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
मंत्री- आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला, **सोलापुर**

* श्रीजिनाय नमः *

आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित

भावत्रयफलप्रदर्शी

'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री रचित

हिन्दी टीका सहित

मंगलाचरण

ज्ञानादित्यं जिनं नत्वा श्रीदं सर्वप्रकाशकम् ।
भक्त्या शान्तिसुधर्मौ च ज्ञानवैराग्यवर्द्धकौ ॥ १ ॥

भावत्रयाणां हि फलप्रदर्शी, ग्रन्थो मयायं सकलात्मशुध्यै ।
विरच्यते स्वात्मरतेन शुध्या, श्रीकुन्थुनाम्ना वरसूरिणेति ॥२॥

महावीर जिनराजके चरण नमूं चित लाय ।
भावत्रयफलदर्श की टीका लिखूं वनाय ॥

अर्थ—जो जिनेन्द्रदेव आत्मज्ञानको प्रकाशित करनेके लिये सूर्यके समान है, अन्तरंग वहिरंग लक्ष्मीको देने वाले हैं और जो समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करने वाले हैं ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देवको मैं सबसे पहले नमस्कार करता हूं । तदनन्तर मैं वैराग्यको

बढ़ाने वाले वा जैनेश्वरी दीक्षा देनेवाले आचार्यवर्य दीक्षागुरु श्री शांतिसागर आचार्यको नमस्कार करता हूं और अन्तमें ज्ञानकी वृद्धि करनेवाले विद्यागुरु आचार्य सुधर्मसागर को नमस्कार करता हूं। इन सबको भक्तिपूर्वक नमस्कार करनेके अनन्तर अपने आत्मामें लीन रहनेवाला और श्रेष्ठ आचार्य ऐसा मैं श्री कुन्थुसागर स्वामी अपने मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक समस्त भव्यजीवोंकी आत्माओंको शुद्ध करनेके लिए तीनों भावोंके फलको दिखलाने-वाले इस ग्रन्थका निरूपण करता हूं।

भावार्थ—जिस प्रकार इस संसारमें समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला सूर्य है उसी प्रकार शुद्ध आत्माके स्वरूपको वा शुद्ध आत्माके शुद्ध बोधको प्रकाशित करनेवाले भगवान् जिनेन्द्र-देव ही हैं। इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव अपने अगाध तपश्चरणके द्वारा उसी आत्मज्ञानको प्राप्त होकर सर्वदर्शी सर्वज्ञ बन गये हैं साथ ही साथ वे निरुपम परम वीतराग भी हैं। यही कारण है कि वे भगवान् जिनेन्द्र देव आत्मज्ञानके स्वरूपका पूर्ण उपदेश देते हैं तथा वीतराग होनेके कारण यथार्थ स्वरूपका उपदेश देते हैं। इसीलिये वे भगवान् ज्ञानभानु कहलाते हैं। इसके सिवाय वे भगवान् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मीको स्वयं धारण करते हैं और उनकी सेवा करनेवाले भव्यजीवोंको प्रदान करते हैं। यहांपर प्रदान करनेका अर्थ देना नहीं है किंतु जो भव्य जीव भगवान् जिनेन्द्रदेवकी सेवा भक्ति करते हैं, उनके गुणोंको

स्मरण कर उनका ध्यान करते हैं वे भव्यजीव अपने कर्मोंको नष्ट कर स्वयं जिनेन्द्र बन जाते हैं । यदि वे भव्यजीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंका ध्यान नहीं करते तो उनके कर्मोंका नाश कभी नहीं होता । तथा विना कर्मों का नाश किये वे कभी जिनेन्द्रपदको प्राप्त नहीं हो सकते । इस प्रकार वे भव्य जीव जो जिनेन्द्रपदको प्राप्त हुये हैं उसमें भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंका ध्यान करना ही कारण पड़ता है, और इसीलिए उस अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीको वा जिनेन्द्रपदको देनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेव हैं ऐसा कहा जाता है । भगवान् जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अन्तरङ्ग लक्ष्मीको देनेवाले हैं उसी प्रकार समवसरण आदि बाह्य लक्ष्मीको देने वाले हैं । तथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होनेके कारण जीव, अजीव, रूपी, अरूपी आदि समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करने वाले हैं । ऐसे भगवान जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूं । तदनन्तर मैं दीक्षागुरु और विद्यागुरु दोनों आचार्यों को नमस्कार करता हूं । इस प्रकार विघ्नशांतिके लिए देव और गुरुको नमस्कार कर मैं इस ग्रंथका निर्माण करता हूं ।

इस संसारमें जितने संसारी जीव हैं उन सबके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं । कितने ही जीवोंके परिणाम अशुभ होते हैं, कितने ही जीवोंके परिणाम शुभ होते हैं और कितने ही योगी वा महायोगियोंके परिणाम शुद्ध होते हैं । मुक्तजीवोंके परिणाम सदा शुद्ध ही होते हैं । इस ग्रन्थमें तीनों प्रकारके परिणामोंका फल दिखलाया है । और इसी लिए इस

ग्रंथका नाम ' भावत्रयफलप्रदर्शी ' रक्खा है। इन तीनों प्रकारके परिणामोंके फलको जानकर भव्यजीव अशुभ परिणामोंका त्याग कर दें, शुभ परिणामोंको धारण करें और फिर शुद्ध परिणामोंका अभ्यास करते हुए शुभ परिणामोंका भी त्याग कर शुद्धपरिणामोंको धारण करें यही इस ग्रंथकी रचनाका प्रयोजन है। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि अशुभ परिणामोंसे पापकर्मोंका आस्रव होता है, शुभपरिणामोंसे पुण्यकर्मोंका आस्रव होता है। पापकर्मोंसे नरकादिककी प्राप्ति होती है और पुण्यकर्म से स्वर्गादिककी प्राप्ति होती हैं। परन्तु स्वर्ग वा नरक दोनों में परिभ्रमण करना संसार है। इस संसार का त्याग शुद्ध परिणामोंसे होता है। इसी लिए शुभ परिणामोंका भी त्याग कर शुद्ध परिणाम धारण करनेका उपदेश दिया जाता है। मोक्षकी प्राप्ति शुद्ध परिणामोंसे ही होती है। इस लिए शुद्ध परिणाम ही आत्माके वास्तविक हित करने वाले परिणाम हैं। उन शुद्ध परिणामोंको धारण कर भव्यजीव अपने आत्माका कल्याण करें वा अपने आत्माको शुद्ध करें यही इस ग्रंथके पठन पाठन करने का फल है।

आगे—इस पहले अध्याय में अशुभोपयोग का फल दिखलाते है, और वह भी प्रश्नोत्तररूपसे दिखलाते हैं। सबसे पहले शोक का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न १—**पापोदयान्मे वद देव कस्मात्।**
प्राप्नोति शोकं सततं व्यथादम्॥

अर्थ—हे देव! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि यह

संसारी जीव किस पापकर्मके उदयसे सदाकाल दुःख देनेवाले शोकको प्राप्त होता रहता है ?

उत्तर—शोकेन दग्धान् मनुजान् विलोक्य।
वा द्वेषबुद्ध्या परिपीडयित्वा।
उत्पाद्य वैरं हृदि यश्च तुष्येत्।
प्राप्नोति शोकं मनुजः स पश्चात् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य शोकसे दग्ध हुए मनुष्योंको देखकर संतुष्ट होता है, अथवा जो मनुष्य किसी द्वेषबुद्धिसे अन्य जीवोंको दुःख देता है, अथवा जो मनुष्य अपने हृदयमें किसीके साथ वैर विरोध कर संतुष्ट होता है वह मनुष्य इन कार्योंके करनेके अनन्तर अथवा मरनेके अनन्तर शोकको प्राप्त होता है।

भावार्थ—मनुष्योंको जो शोक वा संताप होता है वह असाता वेदनीयकर्मके उदयसे होता है। तथा असाता वेदनीयकर्मका आस्रव स्वयं शोक संताप करनेसे होता है अथवा दूसरोंको शोक संताप उत्पन्न करनेसे होता है अथवा स्वयं शोक संताप करने और दूसरोंको भी शोक संताप उत्पन्न करनेसे होता है। जब यह जीव किसी जीवको शोकसे वा अन्य किसी प्रकारके दुःखसे अत्यंत दुःखी देखकर प्रसन्न होता है वा स्वयं किसीको दुःख देकर वा मारकर अथवा अन्य जीवोंकी किसी भी प्रकारकी हानि करके प्रसन्न होता है अथवा किसीके साथ वैर-विरोध करके प्रसन्न होता है तब उस जीवके असाता वेदनीयकर्मका आस्रव होता है। उस आस्रवके अनन्तर समयमें उन आए हुए असाता वेदनीय कर्मोंका बंध हो

जाता है और वह बन्धको प्राप्त हुआ कर्म जब उदयमें आता है तब उस कर्मके उदयसे उस जीवको अत्यन्त शोक और संताप उत्पन्न होता है। यही समझकर प्रत्येक जीवको कोई जीवको सताना नहीं चाहिये. किसी जीवको किसी प्रकारका दुःख नहीं देना चाहिए और किसीके साथ किसी भी प्रकारका वैर विरोध नहीं करना चाहिए। आत्माके सुखका यही सर्वोत्तम उपाय है।

आगे निर्धनताका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयाद्देव धनेन हीनः।**
कस्मात्प्रभोऽयं भवतीह जीवः॥

अर्थ—हे देव! हे प्रभो! यह संसारी जीव किस कर्मके उदयसे वा कैसे काम करने से धनहीन होता है।

उत्तर—**व्ययं सुपात्रे न धनस्य कृत्वा,**
हठाद्धनं यश्च परस्य हृत्वा।
तुष्येत्परं वा कृपणं च दृष्ट्वा,
हीनो धनैश्चान्यभवे भवेत्सः॥ ५॥

अर्थ—जो पुरुष सुपात्रोंके लिए अपना धन खर्च नहीं करते, अथवा जो पुरुष बलपूर्वक दूसरों के धनको हरण कर लेते हैं, अथवा जो पुरुष अन्य कृपणोंको देखकर संतुष्ट होते हैं, ऐसे पुरुष दूसरे भव में जाकर धनहीन होते हैं।

भावार्थ—धनकी प्राप्ति दानसे होती है। जो पुरुष पात्र-दान किया करते हैं उनको भोगभूमिकी प्राप्ति होती है। भोग-भूमिमें धनकी चिन्ता ही नहीं करनी पड़ती। वहांपर कल्पवृक्षोंसे

इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होती रहती है। अथवा पात्रदान देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। स्वर्गमें भी धनकी चिंता नहीं करनी पड़ती, वहांपर भी कल्पवृक्ष हैं अनेक प्रकार की विभूतियां हैं और मानसिक आहार है। देवोंको जब भूख लगती है तभी उनके कंठसे अमृत झर पड़ता है। इस प्रकार वे देव भी सर्वथा निश्चित रहते हैं। मनुष्योंमें जो धनी देखे जाते हैं उनको भी धनकी प्राप्ति पूर्वजन्ममें दिये हुए दानके फलसे ही होती है। अत एव यदि धनी पुरुषोंको आगेके जन्ममें भी धन प्राप्त करना हो तो उनको भी सदाकाल पात्रदानमें ही अपना धन खर्च करना चाहिये। दान देनेमें भी पात्र अपात्र वा कुपात्रका विचार अवश्य करना चाहिये। कुपात्र वा अपात्रोंको दिया हुआ धन श्रेष्ठ दान नहीं कहलाता उस दान का फल दुःखरूप ही होता है। इसलिए पात्रोंको दिया हुआ दान ही श्रेष्ठ दान कहलाता है। जो पुरुष रत्नत्रयसे पवित्र हैं उनको पात्र कहते हैं। उनमें रत्नत्रयसे सुशोभित मुनि उत्तम पात्र कहलाते हैं, व्रती श्रावक मध्यमपात्र कहलाते हैं और सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावक जघन्यपात्र कहलाते हैं। ये सब पात्र धर्मपात्र कहलाते हैं। इनको आवश्यकतानुसार दान देना चाहिये। मुनियोंको आहारदान, शास्त्रदान, पिंछी, कमंडलु, औषध आदि देना चाहिए। ऐलक, क्षुल्लक, अर्जिका, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आदिको आवश्यकतानुसार आहारादिक वा वस्त्रादिक देना चाहिये। श्रावकोंको आहारदान आदि समानदान देना चाहिए। अथवा उनकी आवश्यकताको समझकर देना चाहिए। किसी २

श्रावकको धर्मकी दृढताके लिए धन, बर्तन, वस्त्र आदि भी दिए जाते हैं। इस प्रकार धर्मपर श्रद्धा रखकर दान देनेसे धनकी प्राप्ति होती है। जो पुरुष धन पाकर भी पात्रदान नहीं करते उनका धन व्यर्थ ही समझना चाहिये। ऐसा धन जले हुए बीजके समान है। जैसे जले हुए बीजसे दूसरा अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार विना पात्रदान दिए दूसरे जन्ममें धनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तथा विना धनके वह पात्रदान आदि पुण्यकार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार वह पुरुष जन्म जन्मांतर तक निर्धन बना रहता है।

इसी प्रकार जो पुरुष बलपूर्वक दूसरोंका धन छीन लेता है वह भी अगले जन्ममें निर्धन ही होता है। क्योंकि धन छीननेवाला तो पात्रदानादिक कर ही नहीं सकता तथा धन छीन लेनेके साथ साथ उस धनीके पात्रदान आदि पुण्यकार्योंको भी छीन लेता है। क्योंकि धन छिन जानेके कारण वह धनी भी पात्रदानादिक नहीं कर सकता। इस प्रकार धन छीननेवाला पुरुष अपने पुण्यकर्मको भी रोकता है। और दूसरों के पुण्य कर्मको भी रोकता है। फिर भला ऐसा पुरुष निर्धनी क्यों नहीं हो सकता? अवश्य होता है। इसी प्रकार जो पुरुष कृपणको देखकर संतुष्ट होता है वह भी निर्धनी ही होता है क्यों कि दानधर्ममें खर्च न करनेवाला मनुष्य ही कृपण कहलाता है। ऐसे कृपण मनुष्यको देखकर दानी पुरुष तो कभी प्रसन्न नहीं हो सकता उसको देखकर तो दान धर्ममें खर्च न करनेवाला

कृपण मनुष्य ही प्रसन्न हो सकता है और इसीलिए ऐसा मनुष्य परलोकमें अवश्य निर्धनी होता है।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि धनकी गति ही तीन होती हैं। पहली गति दान, दूसरी गति भोग, और तीसरी गति नाश। इनमेंसे दानदेना सर्वोत्तम गति है। धनको भोगोपभोगोंमें खर्च करना मध्यम गति है। तथा जो पुरुष न दान देते हैं और न भोगोपभोगोंमें खर्च करते हैं उनके धनकी तीसरी नाशरूप गति होती है, अर्थात् उनका धन अवश्य नष्ट होता है। अतएव धनको पाकर दान अवश्य देना चाहिये जिससे कि निर्धनताकी प्राप्ति कभी न हो।

आगे अनादरका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव कस्मा-।**
दनादरः कौ भवतीह जन्तोः ॥

अर्थ—हे देव। अब यह बतलाइये कि पाप कर्मके उदयसे वा किस पापसे इस जीवका इस पृथ्वीपर अनादर होता है।

उत्तर—**पुरा भवे देव गुरुस्मृतीनां,**
कृत्वाऽपमानं हृदि यो ह्यतुष्यत्।
तस्यापमानोऽपि पदे पदे स्या-
न्निंदा सदा चान्यभवेऽपकीर्तिः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो पुरुष पहले भवमें देव गुरु और शास्त्रोंका अपमान कर अपने हृदयमें संतुष्ट होता है वह पुरुष स्थान स्थानपर अपमानित होता है, सदाकाल उसकी निंदा होती रहती है और अगले जन्ममें उसकी अपकीर्ति होती है।

भावार्थ—अनंतचतुष्टय और समवसरण आदि विभूतिके साथ विराजमान भगवान् तीर्थंकर परमदेव को देव कहते हैं। आचार्य उपाध्याय और साधु गुरु कहलाते हैं तथा वीतराग सर्वज्ञ परम अरहन्तदेवकी वाणीको तथा तदनुसार गुरुओंकी वाणीको शास्त्र कहते हैं। ये तीनों ही मोक्षके कारण हैं। इसीलिए इनकी निन्दा करना मोक्षकी निन्दा करना है। यही कारण है कि इनकी निंदा करनेसे स्थान स्थान पर इस जीवकी निंदा होती है तथा परलोकमें नरकादिककी दुर्गति प्राप्त होती है।

"भगवान् अरहन्त देव समवसरणमें भी आहार लेते हैं वा मल, मूत्र करते हैं, उनके परीषह भी होती है" आदि कहना अरहन्तदेवकी निंदा करना है। वीतराग परमगुरु समस्त परिग्रहोंके त्यागी होते हैं। इसलिए वे सदा दिगम्बर अवस्था धारण करते हैं। "उन परम दिगम्बर मुनियोंको नग्न कहकर उनकी हँसी करना, उनसे अरुचि करना, उनके दर्शन नहीं करना, उनसे द्वेष करना, उनके लिए बुरे शब्द कहना, उनके लिए वैयावृत्त्य करने का निषेध करना, उनकी चर्या वा विहार आदिकी निंदा करना" गुरुओं की निंदा कहलाती है। "शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है वह सब ठीक नहीं है, उसमें अध्यात्मवाद वा तत्त्ववाद भले ही ठीक हो परंतु क्रियाकांड वा व्यवहारचारित्र का निरूपण वा त्याग मर्यादाका कथन अथवा दान पूजनका प्रकरण सब ज्यों का त्यों ठीक नहीं है। पूजनमें पंचामृताभिषेक किसीका मिलाया हुआ है, यज्ञोपवीत विधि मिलाई हुई है, पुष्प फलोंसे

पूजा करना इस कालमें ठीक नहीं है” इत्यादि वचनोंका कहना शास्त्रोंकी निंदा करना है। अथवा “विजातीय विवाह शास्त्रसम्मत है, इस काल में विधवाविवाह कर लेना शास्त्रसम्मत है, दस्साओंको शुद्ध मान लेना और उनके साथ रोटी वेटी व्यवहार करना शास्त्रसम्मत है, अछूतोंको मंदिर में जाने देना वा उनके साथ खानेपीने का व्यवहार रखना शास्त्र-सम्मत है” इत्यादि वचन कहना शास्त्रोंकी निंदा वा अपमान है। शास्त्रों के विरुद्ध वचन कहना भी शास्त्रों का अपमान है। इस प्रकाम देव शास्त्र गुरु का अपमान करने से इस लोक और परलोक दोनों लोकों में इस जीव का अपमान होता है तथा नरकादिक दुर्गति प्राप्त होती है। इसलिए ऐसे पापोंसे बचनेके लिए देव शास्त्र गुरुओंका अपमान कभी नहीं करना चाहिए।

आगे दुष्ट स्त्री प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव कस्माद्।**
नरः कुभार्यां लभतेऽन्यलोके॥

अर्थ—हे देव अत्र कृपाकर यह बतलाइये कि किस कर्मके उदयसे वा किस पापकार्य से इस जीवको परभवमें दुष्ट स्त्री प्राप्त होती है।

उत्तर—**पत्न्या समं यः कलहं च कृत्वा।**
निंदां सुनार्याश्च विधाय रोपात्॥
दृष्ट्वा ह्यतुष्यत्कलिकारिणीं स्त्रीं।
स दुष्टभार्यां लभतेऽन्यलोके॥ ६॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी स्त्री के साथ रात दिन लडता रहता है, अथवा किसी द्वेष के कारण सदाचारिणी स्त्रियोंकी निंदा करता रहता है, अथवा कलह करनेवाली स्त्रियोंको देखकर अत्यंत संतुष्ट होता है, ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर अत्यंत दुष्ट स्त्री को पाता है।

भावार्थ—धर्मपत्नी धर्मकार्योंमें सहायता देनेवाली होती है। विना धर्मपत्नीके पात्रदानकी उत्तम व्यवस्था नहीं हो सकती, न प्रति दिन हो सकती है, तथा जिनपूजनमें भी विना धर्मपत्नीके नैवेद्य आदिकी व्यवस्था नहीं हो सकती। धर्मपत्नीके साथ कलह करने से दान पूजन दोनोंकी ही व्यवस्था नष्ट होती है। इसलिए धर्म-पत्नीके साथ कभी भी कलह नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार सदाचारिणी स्त्रियों की निंदा करना वा उनमें किसी प्रकार का कलंक लगाना महापापका कारण है। जो पुरुष सदाचारिणी स्त्री में कलंक लगाता है उसको उसके फल से कलंकित स्त्री मिलनी ही चाहियें। अथवा जो पुरुष कलह करनेवाली स्त्रीको देखकर संतुष्ट होता है अथवा जिसकी भावना सदाकाल कलह करनेवाली स्त्रियों से ही प्रसन्न रहती है ऐसें पुरुषों को उस भावना के फल से परलोक में कलह करनेवाली स्त्री ही प्राप्त होती है। कलह करना वा किसी प्रकारकी कलह से प्रसन्न होना अशुभपरिणामों का कारण है, और ऐसे अशुभ परिणामोंके फल से ऐसे ही स्त्री पुत्र आदि प्राप्त होते हैं जो सदाकाल कलह करते रहते हैं और इस प्रकार परं-परातक पापकर्मोंके कारण होते हैं। यही समझकर न तो स्वयं

कभी कलह करना चाहिये और न कभी कलहके समीप ठहरना चाहिये। यह आत्माके हितका एक साधन है।

आगे—दुष्ट पति प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात्,**
दुष्टं पतिं स्त्री लभतेऽन्यलोके ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि किस पाप कार्यके उदयसे इस स्त्रीको परलोकमें दुष्ट पति प्राप्त होता है।

उत्तर—**पत्या समं या कलहं च कृत्वाऽ— ।**
तुष्यत्कुशीलं पुरुषं हि दृष्ट्वा ॥
द्वेष्टि प्रियं सच्चरितं विनीतं ।
दुष्टं पतिं सा लभतेऽन्यलोके ॥ ७ ॥

अर्थ—जो स्त्री अपने पतिके साथ कलह करती हुई प्रसन्न होती है अथवा असदाचारी मनुष्योंको देखकर प्रसन्न होती है अथवा सदाचारी और विनय करनेवाले पतिसे द्वेष करती है ऐसी स्त्रीको परभवमें दुष्ट पति ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—स्त्रियोंके लिए पति पूज्य माना जाता है। सब प्रकारसे पतिकी सेवा करना स्त्रियोंका धर्म माना जाता है। सब प्रकारसे पतिकी सेवा भक्ति करनेवाली स्त्रियां ही पतिव्रता कहलाती हैं। ऐसी प्रतिव्रता स्त्रियां अपने पतिके साथ कभी कलह नहीं करती हैं। जो स्त्रियां अपने पतिके साथ कलह करती हैं वे पतिव्रता कभी नहीं कहला सकतीं, और इसीलिए ऐसी स्त्रियोंको परभवमें कलह करनेवाला ही दुष्ट पति प्राप्त होता है। इसी प्रकार

जो स्त्री कुशील पुरुषको देखकर प्रसन्न होती है वह भी पतिव्रता कभी नहीं हो सकती। कुशील पुरुषोंको देखकर कुशील स्त्रियां ही प्रसंन्न होती हैं। पतिव्रता स्त्री कभी प्रसन्न नहीं हो सकती। इसलिए कुशील पुरुषको देखकर प्रसन्न होना अपने शीलमें दोष लगाना है। तथा ऐसी सदोष स्त्रियोंको परभवमें दुष्टपति ही प्राप्त होता है।

इसी प्रकार अपने सदाचारी और विनय करनेवाले पतिसे द्वेष करना भी पतिव्रता स्त्रियोंका काम नहीं है। अपने पतिसे तो कभी द्वेष करना भी पतिव्रता स्त्रियोंका काम नहीं है। अपने पतिसे तो कभी द्वेष करना ही नहीं चाहिए। जो स्त्रियां अपने पतिसे द्वेष करती हैं वे श्रेष्ठ स्त्रियां नहीं कहलाती, और इसीलिए परभवमें भी ऐसी स्त्रियोंको दुष्टपति ही प्राप्त होता है। इसलिए पतिकी सेवा-भक्ति करना ही स्त्रियोंका धर्म है, पतिकी सेवा-भक्ति करने से पतिके द्वारा होनेवाले धर्मकार्य उन स्त्रियोंकी सहायतासे सरल रीतिसे संपन्न हो जाते हैं और फिर उन धर्मकार्योंका फल उन स्त्रियोंको भी अवश्य प्राप्त होता है।

आगे मल, मूत्रादिकमें कैसे जीवोंका जन्म होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माच्च कार्याद् वद देव ! निंद्ये ।**
मले जनानां भवतीह जन्म ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किन किन कार्योंके करने से इन जीवोंका मल मूत्रादिक निंद्य पदार्थोंमें जन्म होता है ?

उत्तर—दुर्गंधयुक्त मलिनान्नपानं ।
मांसादिकं भक्षितमेव येन ॥
पीतं तथा मद्यरसं नितान्तं ।
स्यात्तस्य जन्मापि मले पशूनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पशुरूप मनुष्य दुर्गंध और अत्यन्त मलिन ऐसे अन्न पानको भक्षण करते रहते हैं, अथवा मलिन दुर्गंधरूप मांसादिकका भक्षण करते रहते हैं अथवा सदाकाल मद्य पान करते रहते हैं ऐसे पुरुष मरकर पशुओंके मलमूत्रके कीड़े होकर उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—मद्य, मांस वा दुर्गंधमय अन्न पान आदि समस्त पदार्थ अत्यन्त घृणित और अनन्त जीवमय हैं। इन पदार्थोंका स्पर्श करनेमात्रसे अनन्त जीवोंका घात होता है। फिर भला खाने पीनेकी तो बात ही क्या है। जो पुरुष मद्य, मांसका सेवन करते हैं वे अनन्तानन्त जीवोंका घात करने के कारण नरकादिक दुर्गतियोंके दुःख भोगते हैं, फिर वहां से निकलकर मलमूत्रके कीड़े होते हैं। और फिर नरकादिक के दुःख भोगते । इस प्रकार उनके दुःखोंकी परम्परा सदाकाल चलती रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मद्य मांसादिकके सेवन करनेमें महापाप होता है। शहद भी मद्य मांसके समान है इसलिये इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

आगे यह जीव घर कुटुम्बका त्याग क्यों नहीं करता यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
त्यक्तु न शक्नोति नरो गृहादिम् ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस कर्मके उदयसे वा किस कारणसे यह जीव घर कुटुम्बका त्याग नहीं कर सकता ।

उत्तर—पुरा भवे यो विषये निमग्नो ।
बभूव भक्त्या हि कुलिंगिभक्तः ।
पूर्वोक्तसंस्कारवशान्न शक्तो ।
भवेत्स मोक्तु गृहबन्धुभार्याम् ॥ ६॥

अर्थ—जो पुरुष पहले अनेक भवों में इन्द्रियोंके विषयोंमें निमग्न हो रहा था, अथवा भक्तिपूर्वक जो कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंका भक्त बन रहा था वह पुरुष अपने पहले भवोंके संस्कारके निमित्तसे अपने घर, भाई, बन्धु, मित्र, स्त्री आदिका त्याग कभी नहीं कर सकता ।

भावार्थ—यह मोह इस संसारी जीव के साथ अनादि कालसे लग रहा है । मोहके ही कारण यह जीव पर पदार्थोंको अपना मान लेता है । देखो संतानरहित कोई धनी पुरुष किसी अन्य निर्धन पुरुषके पुत्र को गोद लेकर अपना पुत्र बना लेता है । गोद लेने के पहले उस पुत्रके साथ उस धनी का कोई किसी प्रकार का मोह नहीं था । उसके दुःख सुखमें उसकी सहानुभूति नहीं थी । परन्तु जिस दिनसे वह धनी उस पुत्रको अपना मान लेता है उसी दिनसे वह उस पुत्रके लिये अपना सब

कुछ समर्पण कर देता है। उसी दिनसे सेठ सेठानी दोनों ही उसकी सेवा करते हैं, उसके थोडेसे दुःखमें अत्यन्त दुःखी होते और उसके थोडेसे रोगमें हजारों रुपये खर्च कर देते हैं। यह सब उस अन्यके पुत्रको अपना मान लेनेका वा उसके साथ मोह करनेका फल है। इस मोहके कारण यह जीव अनेक प्रकारके पाप करता है परन्तु उसके त्याग करनेका साहस नहीं करता। किसी धनी पुरुषने जिस पुत्रको गोद लिया है यदि वही पुत्र वर्ष दो वर्ष रहकर वापिस जाना चाहता है तो केवल वर्ष दो वर्षके मोहसे ही उसको वापिस जाने नहीं देता। तथा उसके जानेपर रोता है दुःखी होता है। जब वर्ष दो वर्ष के मोहसे इस जीवकी यह अवस्था होती है तो फिर अनादिकालसे लगे हुए इन इन्द्रियोंके विषयोंके मोहकी तो बात ही क्या है उनको तो वह कभी छोड़ ही नहीं सकता। इसी प्रकार इस मोहके ही कारण यह जीव कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुका भक्त बन जाता है। और इस प्रकार मिथ्यात्वको वृद्धिकर अपने आत्माका स्वरूप भूल जाता है। जब यह जीव काललब्धि और अपने शुभ परिणामोंके द्वारा उस मिथ्यात्वकर्मका उपशम कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब यह जीव उस सम्यग्दर्शनरूपी प्रकाशके द्वारा अपने आत्माके स्वरूप को पहचानने लगता है। तथा जब यह जीव अपने आत्माके स्वरूपको पहचानने लगता है तब उस अपने आत्माके स्वरूपको ग्रहण करने योग्य अपना समझने लगता है और पुत्र, पौत्र, मित्र, स्त्री आदि सबको पर और हेय समझने लगता है। इस प्रकार

अपने आत्माके स्वरूप को पहचान लेने पर यह जीव मोह का त्याग कर घर कुटुम्बादिकका त्याग कर देता है और फिर अपने आत्मकल्याणमें लग जाता है। इसलिये भव्य जीवोंको सबसे पहले मोहका त्याग कर देना चाहिये। आत्माके कल्याणका सर्वोत्तम उपाय यही है।

आगे—अन्धे होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव कस्मात् ?**
जीवः किलांधो भवतीह विश्वे।

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव इस संसारमें किस कर्मके उदयसे वा कौन कार्य करनेसे अंधा होता है।

उत्तर—**बलात्परेषां नयनानि छित्वा।**
यः सुन्दरांगी हृतवान् धनादिम्।
अन्धापमानं कृतवान कुगर्वाद्।
मृत्वा स चांधो हि भवेदमुत्र ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष बलपूर्वक दूसरेके नेत्रोंको फोड़ देता है अथवा जो दूसरेकी सुन्दर स्त्रियोंका हरण कर लेता है वा धनादिकका हरण कर लेता है अथवा जो अपने मिथ्या-अभिमानसे अन्धोंका अपमान करता है वह पुरुष मरकर परलोकमें अन्धा होता है।

भावार्थ—इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है कि यह जीव पापकर्मके उदय से ही अन्धा होता है तथा वह पाप कर्म किसी दूसरेके नेत्र फोड़ देनेसे भी होता है, सुन्दर स्त्रियोंको हरण करनेसे

भी होता है, धनका हरण करलेनेसे भी होता है और अन्धोंका अपमान करनेसे भी होता है। इस शरीरमें मुख वा मस्तक उत्तम अङ्ग कहलाता है, उस मुखमें भी दोनों नेत्र ही सर्वोत्तम कहलाते हैं। विना नेत्रोंके न तो यह जीव मुनिव्रत धारण कर सकता है न श्रावक व्रतको अच्छी तरह पालन कर सकता है, न जीवोंकी रक्षा कर सकता है, न भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन कर सकता है न गुरुके दर्शन कर सकता है और शास्त्र-स्वाध्याय अभिषेक, पूजन आदि उत्तम कार्योंको कर सकता है ऐसे उत्तम कार्योंको करनेवाले इन नेत्रोंको फोड़ देना महापाप है। ऐसे ही पाप कार्यके उदयसे यह जीव अन्धा होता है। इसी प्रकार किसीकी सुन्दर स्त्री को हरण कर लेना, किसीके धनको हरण कर लेना वा दुःखी अन्धों का अपमान करना भी महापाप है, और इन्हीं पापकर्मोंके उदयसे यह जीव अन्धा होता है। इसलिए ऐसे पापकर्म इस जीवको कभी नहीं करने चाहिये।

आगे लूले लङ्गड़े वा अपाङ्ग होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव कस्मा-**
न्नाछिन्नदेही भवतीह लोके ॥

अर्थ—हे देव! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे वा किस पाप से यह जीव लोकमें लूला लङ्गड़ा वा अपाङ्ग होता है?

उत्तर—**हस्तौ परेषां चरणौ च छित्त्वाऽ-**
तुष्यन्नृणां स्वार्थवशात्पशूनाम् ॥

दृष्ट्वा हृयनन्दत्खलु छिन्नदेहं ।
स स्यादमुत्रेऽखिलछिन्नदेही ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने किसी स्वार्थसे मनुष्य वा पशुओंके हाथ पैरोंको काट डालता है, अथवा लूले, लङ्गड़े, अपाङ्ग जीवोंको देखकर प्रसन्न होता है वह जीव मर कर परलोक में छिन्न भिन्न शरीरको धारण करने वाला व लूला, लङ्गड़ा, अपाङ्ग होता है।

भावार्थ—लूला, लङ्गड़ा होना वा अपाङ्ग होना वा शरीरका छिन्न भिन्न होना महापापकर्मके उदयसे होता है। तथा वह पापकर्म जीवों को अत्यन्त दुःख देनेसे बन्धको प्राप्त होता है। तीर्थयात्रा, जिनपूजन, अभिषेक, स्वाध्याय, पात्रदान, तपश्चरण आदि जितने आत्मकल्याणके कार्य हैं वे सब कार्य शरीरके हाथ, पैर आदि शरीर के अङ्ग उपांगों से ही होते हैं। इसलिए अङ्ग उपांगों का काट डालना उन आत्मकल्याण करनेवाले तपश्चरण आदि कार्यों में घोर विघ्न डालना है। अथवा जिस जीवके अङ्ग उपाङ्ग काटे जाते हैं उसको महादुःख होता है। तथा वह दुःख महापाप कर्मों का कारण बन जाता है। और उन पापकर्मों के उदय से ही वह जीव लूला, लङ्गड़ा वा अपाङ्ग उत्पन्न होता है। इसके सिवाय अपाङ्ग जीवोंको देख देखकर प्रसन्न होना भी पापका कारण है। उनको देखकर तो करुणा उत्पन्न होनी चाहिये। परन्तु जिन जीवों को करुणा के स्थान में हर्ष उत्पन्न होता है उनको महापाप लगना ही चाहिये और उन पाप-कर्मोंके उदयसे उनके अङ्ग उपाङ्ग छिन्न भिन्न होने

ही चाहिए तथा होते ही हैं। इसलिये आत्मकल्याण चाहनेवाले जीवों को कभी भी अन्य जीवोंके अङ्ग उपाङ्ग छिन्न भिन्न नहीं करने चाहिये। सब जीवोंको अपने आत्माके समान समझकर सब को सुख पहुंचानेका प्रयत्न करना चाहिए आत्मकल्याण का यह सबसे सरल मार्ग है।

आगे पशुहिंसक व्याध होनेके कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव! कस्मात्।**
व्याधो भवेत्कौ खलु मन्दभागी॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव पशुओंको मारनेवाला व्याध किस पापकर्मके उदयसे होता है।

उत्तर—**मांसादिभक्षी ह्यसुहिंसको यो।**
धर्मस्य द्वेषी कलहप्रियश्च॥
व्याधश्च पापान्मनुजः स मृत्वा।
भवत्यवश्यं हतधर्मकर्मा॥ १२॥

अर्थ—जो मनुष्य मांस भक्षण करता है, मद्यपान करता है अनेक जीवों के प्राणोंका घात करता है, धर्मसे द्वेष करता है और सर्वत्र लड़ाई झगड़ा वा कलह करता रहता है ऐसा मनुष्य उस पाप कर्म के निमित्त से मरकरके अवश्य ही धर्मकर्मसे सर्वथा रहित व्याध होता है।

भावार्थ—व्याधके शरीरमें जन्म लेना महापाप का कारण है। अनेक जीवोंको मारना, अनेक पक्षियोंको मारना, वा जीवित पकड़ कर उनको अनेक प्रकारके दुःख देना व्याध लोगोंका प्रति

दिनका काम है। इन महापापरूप कामोंको करने से ही व्याध लोग प्रायः मरकर नरक ही जाते हैं। इसीलिये व्याध लोग महापापी गिने जाते हैं। इस महापापके कारण ही कोई भी सज्जाति वाला मनुष्य उनका स्पर्श नहीं करता है। इस श्रेष्ठ मनुष्य जन्म को पाकर भी जो लोग मांस भक्षण करते हैं, मद्यपान करते हैं। कन्दमूल, बड़, पीपर, ऊमर, कठूमर, पाकर, आदि अनेक जीवोंसे भरे हुए फलोंको खाते हैं, आचार, द्विदल आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करते हैं, आसव, अरिष्ट, सिरका वा मद्य, मांसादिकसे बनी हुई औषधियोंका सेवन करते हैं, अथवा थोड़े से जिह्वाके स्वादके लिए जो अनेक जीवोंको मारते हैं, अपने विनोदके लिए अनेक जीवोंको मारते हैं, वा विना कारण ही सांप, विच्छू आदि जीवोंको मार देते हैं, जो लोग धर्म से द्वेष रखते हैं, धार्मिक कार्यों को न तो स्वयं करते हैं और न किसी दूसरोंको करने देते हैं, जो धर्म कार्यों में सदा विघ्न करते हैं, अथवा जो मनुष्य कलह कराने में चतुर होते हैं वा कलहको देखकर प्रसन्न होते हैं, जो लोग पशुओंको वा मनुष्योंको परस्पर लड़ाया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर अवश्य ही व्याध होते हैं। उस व्याधयोनियोंमें आकर वे किसी प्रकार का धर्मकर्म नहीं कर सकते, तथा निरन्तर हिंसाके ही कार्य करते रहते हैं। जिनके कारण वे मरकर नरक ही जाते हैं। इसलिये मनुष्य जन्म पाकरके कभी भी पापकार्य नहीं करना चाहिए। आत्माको सुख पहुंचाने का यह सबसे सुगम मार्ग है॥

आगे कुपुत्री प्राप्त करने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।**
पिता कुपुत्रीं लभतेऽन्यलोके ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस कर्म के उदय से वा किस पापसे परलोकमें जाकर पिताको कुपुत्री प्राप्त होती है।

उत्तर—**कस्यापि बन्धोरपमानहेतोः ।**
प्रदर्श्य चान्यां खलु तत्कुपुत्रीम् ॥
योऽप्रीणयन्निंद्यसुतामभागी ।
स चान्य लोके लभते कुपुत्रीम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने किसी भाईका अपमान करनेके लिए किसी अन्य सुन्दर कन्याको दिखाकर उसके साथ अपनी निन्दनीय कुपुत्रीका पाणिग्रहण कर देता है उस अभागी पुरुषको परलोकमें जाकर कुपुत्री ही प्राप्त होती है।

भावार्थ—यहां पर निंद्य कुपुत्री अर्थरूप रहित वा अङ्ग उपाङ्ग रहित लूली, लङ्गड़ी, अंधी, बहिरी, वां अन्य अनेक दोषोंसे दूषित कन्या है। यदि कोई पुरुष ऐसी रूप रहित वा अंधी, लूली लङ्गड़ी, कन्या के साथ अपनी प्रसन्नता पूर्वक विवाह करता है उस की तो कोई बात ही नहीं है। परन्तु जो पुरुष ऐसी कन्याके साथ विवाह नहीं करना चाहता और ऐसी कन्याका पिता उसी पुरुषको किसी अन्य दूसरेकी पुत्रीको दिखाकर उसे विवाहके लिए प्रसन्न कर लेता है, और विवाह करते समय अपनी सदोष वा लूली,

लङ्गड़ी वा अंधी बहिरी कन्या के साथ उसका विवाह कर देता है, वह पुरुष भी महापापी गिना जाता है। इसका कारण यह है कि वह ऐसी कन्याका पिता प्रथम तो उसको ठगता है तथा ऐसी कन्या के साथ विवाह करनेसे उसका अपमान होता है। इस प्रकार मायाचारी के साथ अपनी कुरूप व सदोष कन्याको देकर उस कन्याका पिता उस जामाता को ठगने वाला और अपमान करनेवाला कहलाता है। तथा इसी पापके कारण परलोक में फिर भी उसके ऐसी ही कुरूपाएं वा सदोष कन्याएं उत्पन्न होती हैं। इसलिए सद्गृहस्थोंको ऐसी मायाचारी कभी नहीं करनी चाहिए॥

आगे ठग उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापादयान्मे वद देव कस्मा-**
न्मृत्वा मनुष्यः खलु वंचकः स्यात्॥

अर्थ—हे देव! अब कृपाकर यह बतलाइए कि यह मनुष्य मरकर किस पापकर्म के उदय से ठग होता है।

उत्तर—**चित्तेऽन्यचिन्ता वचनेऽन्यवार्ता।**
कायेऽन्यकृत्यं भवदं च यस्य।
स एव मृत्वा भुवि वंचकः स्यात्।
पूर्वोक्तसंस्कारवशादभागी॥ १४॥

अर्थ—जो पुरुष अपने मनमें कुछ और ही चिन्तवन करता है, वचनसे कुछ और ही बात कहता है और शरीर से कुछ और ही काम करता है इस प्रकार जन्ममरण रूप संसारको बढ़ानेवाली

ठगाई करता रहता है वह पुरुष मरकर अपने पहले संस्कारोंके निमित्त से भाग्यहीन ठग होता है।

भावार्थ—दूसरों को ठगना भी महापाप है तथा इस महापाप को प्रत्येक मनुष्य नहीं कर सकता। अनेक मनुष्य सरल स्वभावके होते हैं उनसे विश्वासघात वा ठगई का काम नहीं हो सकता। जो जीव जन्मजन्मांतर से मनवचन काय में कुटिलता रखते चले आते हैं सोचते कुछ हैं, कहते और कुछ हैं और करते और कुछ हैं तथा जिन्हें ऐसा करने का अभ्यास अनेक जन्मोंसे होता चला आरहा है ऐसे नीच ही मरकर भाग्यहीन ठग होते हैं। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि मनुष्य पर्याय में तो ऐसे ठग होते ही हैं परन्तु पशुओं में भी कौआ, बिल्ली, शृगाल इत्यादि कितने ही पशु ऐसे मायाचारी होते हैं। इसलिये आत्म कल्याण करनेवाले पुरुषोंको ऐसी मायाचारी कभी नहीं करनी चाहिये।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव! कस्माद्।**
भवत्यवश्यं वधिरो हि जीवः॥

अर्थ—हे भगवन् अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे वा किस पापसे अवश्य ही बहरा होता है?

उत्तर—**आकर्ण्य नृणां कुकथां पुरा यो-**
तुष्यद्धि कृत्वा वधिरापमानम्।
अत्रापि वाचोऽश्रुत एव तिष्ठेद्
मृत्वास मूढो वधिरो भवेत्कौ॥ १५॥

अर्थ—जो मनुष्य पहले जन्म में मनुष्यों की कुकथाएं सुनकर प्रसन्न होता है अथवा बहरे लोगों का अपमान कर प्रसन्न होता है अथवा वचनों को सुनकर भी न सुनने के समान बैठा रहता है वह मूर्ख मनुष्य मरकर इस पृथ्वी पर बहरा ही होता है।

भावार्थ—कर्णेंद्रिय प्राप्त करने का फल धर्मकथाओं का सुनना है। धर्मकथाओं के सुनने से वा आत्मा आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को सुनने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तथा यही मनुष्यजन्म प्राप्त करने का फल है। विकथाओं के सुनने से पाप कर्मों का बन्ध होता है। क्योंकि भोजनकी कथा कहना, चोरोंकी कथा कहना किसी राष्ट्र वा युद्ध की कथा कहना आदि सब विकथाएं या कुकथाएं कहलाती हैं। इनके सुनने से पापरूप परिणाम होते हैं। और उन परिणामों से पापकर्मों का बन्ध होता है उनके उदय होने पर यह जीव प्रायः बहिरा हो जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने पापकर्मों के उदय से बहिरा हुआ है उसका अपमान करना भी पाप है उस पाप के उदय से भी यह जीव बहिरा होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य धार्मिक कथाओं को सुनकर भी विना सुने हुए के समान आचरण करता है, धर्मशास्त्रों को सुनकर भी उनके आज्ञानुसार आचरण नहीं करता वह मनुष्य भी मरकर बहिरा होता है। इसलिये धर्मात्मा पुरुषों को कुकथाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, किसी का अपमान नहीं करना चाहिये और धर्मशास्त्रों को सुनकर उनकी आज्ञानुसार आचरण करते रहना चाहिये। यही आत्मकल्याणका सरलमार्ग है।

आगे गूंगा होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।**
जीवोऽन्यलोके भवतीह मूकः॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप-कर्म के उदय से यह जीव मरकर परलोकमें गूंगा होता है।

उत्तर—**वस्तु ह्यभक्ष्यं रसनाप्रलोभा-**
द्योऽभक्षयन्मांसकलेवरादिम्।
निर्ग्रंथसाधोरकरोत्प्रणिन्दां।
मृत्वा स मूको भवति ह्यमुत्र ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी जिह्वाकी लोलुपता के कारण जीवोंके मांस वा कलेवर आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करता है अथवा जो मनुष्य निर्ग्रंथ मुनियों की निंदा करता है वह मनुष्य मरकर परलोक में अवश्य गूंगा होता है।

भावार्थ—बोलना, बातचीत करना, स्वाध्याय करना, धर्मोपदेश देना, पढ़ना पढ़ाना आदि सब जिह्वाइन्द्रियका काम है। यद्यपि भोजन का स्वाद भी जिह्वा इन्द्रिय से लिया जाता है परंतु स्वाद लेना मोक्षमार्गमें सहायक न होने से वह जिह्वा इन्द्रिय का फल नहीं समझा जाता। इसलिये जो लोग जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता के कारण मांसादिक अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करते हैं उन्हें जिह्वा इन्द्रिय का फल कभी नहीं मिल सकता। तथा गूंगा होनेसे ही उस जिह्वा इन्द्रिय के फल का अभाव हो सकता है। इसलिये ऐसे मनुष्य परलोक में गूंगे ही होते हैं।

इसी प्रकार साधुओंकी स्तुति करना, उनकी पूजा बोलना आदि जिह्वा इन्द्रियका फल है। परन्तु जो मनुष्य निर्ग्रंथ मुनियोंकी निन्दा करते हैं उनको उस जिह्वा इन्द्रियका फल कभी नहीं मिल सकता। इसलिए मुनियोंकी निन्दा करनेवाले मनुष्य मरकर गूंगे ही होते हैं। अतएव धर्मात्मा श्रावकोंको मुनियोंकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए और न कभी अभक्ष पदार्थोंका भक्षण करना चाहिए।

आगे धूर्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा-**
न्मृत्वा स जीवो भवतीह धूर्तः।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदय से यह जीव मरकर धूर्त होता है।

उत्तर—**मिथ्याप्रलोभी व्यसने निमग्नो।**
नास्तिक्यवादी परलोकलोपी॥
इत्यादि पापस्य वशात्प्रमूढो।
मृत्वा स जीवो भवतीह धूर्तः॥ १७॥

अर्थ—जो मनुष्य, मिथ्या लोभ करता है, व्यसनोंमें सदा लीन रहता है, नास्तिकवाद को मानता है और परलोकको मानता नहीं, ऐसा मूर्ख मनुष्य ऊपर लिखे पाप कार्योंके वश होकर इस संसार में अत्यन्त धूर्त होता है। भावार्थ--मायाचार करनेवाले या ठगई करने को धूर्त कहते हैं। धूर्त होना एक महापाप का फल है। क्योंकि धूर्त मनुष्य दूसरोंको ठग ठगकर महापाप उत्पन्न किया करता है।

जो लोग झूठा लोभ किया करते हैं अर्थात् जहां लोभ नहीं करना चाहिये वहां लोभ करते हैं और जहां लोभ करना चाहिये, वहां नहीं करते। धनी मनुष्योंको धर्मकार्योंमें ही अपना रुपया लगाना चाहिये, व्यसनोंमें वा चरित्रको नष्ट करने वाले सिनेमा, थियेटर, आदि पापकार्योंमें अपना रुपया कभी खर्च नहीं करना चाहिये। परन्तु जो लोग धर्मकार्योंमें तो खर्च करते नहीं और व्यसनोंमें वा खेल तमाशोंमें हजारों रुपये खर्च कर देते हैं ऐसे लोग धर्मकार्योंमें लोभ करने के कारण मिथ्या लोभी कहलाते हैं। ऐसे मिथ्या लोभी मरकर धूर्त ही होते हैं। इसी प्रकार जो लोग जूआ खेलना, चोरी करना शिकार खेलना, परस्त्रीहरण करना वेश्यासेवन करना, मद्य मांसका सेवन करना आदि व्यसनोंमें लगे रहते हैं वे भी मरकर धूर्त ही होते हैं। इसी प्रकार जो लोग नास्तिकवादी हैं वा परलोकको नहीं मानते हैं वे भी अपने आत्मा को ठगते हैं। क्योंकि नास्तिकवादी होने से वा परलोक न मानने से पुण्य पाप भी नहीं माना जा सकता। तथा जो लोक पुण्य पाप नहीं मानते हैं वे पापकार्योंमें ही अपनी निरर्गल प्रवृत्ति करते हैं। इसलिये ऐसे पापी लोग मरकर धूर्त ही होते हैं।

आगे रोगी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव कस्मा-**

ज्जीवः स रोगी भवतीह मृत्वा ॥

अर्थ—हे भगवन्! अत्र कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदयसे मरकर रोगी होता है?

उत्तर—दत्तं न दानं भुवि चौषधस्य।
कृतापि सेवा न च रोगिणोऽस्य।
कृता च गर्वात्खलु रोगिनिन्दा।
मृत्वा स रोगी भवति ह्यभाग्यः॥ १८॥

अर्थ—जो पुरुष न तो कभी किसी रोगी को औषधिका दान देता है, न कभी किसी रोगी की सेवा करता है तथा जो अपने अभिमानसे रोगी की निन्दा करता है ऐसा अभागी पुरुष मरकर रोगी ही होता है।

भावार्थ—इस शरीरमें अनेक रोग भरे हुए हैं और वे सब पापकर्म के उदयसे प्रगट होते हैं। दान देना पुण्य कार्य है तथा जो पुरुष समर्थ होकर भी दान नहीं देता वह भी पाप ही करता है। जिस प्रकार भोजनदान देने से यह मनुष्य सुखी होता है उसी प्रकार औषधदान देनेसे यह जीव सदाकाल नीरोग रहता है। इसी प्रकार रोगी पुरुष की सेवा करना भी नीरोगता का कारण है। क्योंकि जो पुरुष रोगी होता है वह बहुत ही दुःखी होता है उस दुःखी पुरुष के दुःख को दूर करना वा उस दुःखको दूर करने के लिये औषधि देना वा उसको सुखी करने के लिए उसकी सेवा करना नीरोगताका कारण है। जो पुरुष समर्थ होकर भी इन दोनों कार्यों को नहीं करता, वह कभी नीरोग नहीं रह सकता। परलोकमें जाकर तो वह रोगी होता ही है इसी प्रकार जो पुरुष किसी रोगी की निन्दा करता है वह भी पाप ही करता है, इसलिए वह भी परलोक में रोगी ही होता है। अतएव

समर्थ धनियोंको और समर्थ वैद्योंको रोगी पुरुषोंके लिये औषधियोंका दान अवश्य करते रहना चाहिये। तथा अपने से जितना बन सके उतनी सेवा उन रोगियोंकी करनी चाहिये और रोगी पुरुषों को सदाकाल आश्वासन देते रहना चाहिये। रोगियोंकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये।

आगे किन किन कारणोंसे दुःख देनेवाला कुटुम्ब प्राप्त होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्**
दुःखप्रदं ना लभते कुटुम्बम्।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे इस जीवको दुःख देनेवाला कुटुम्ब प्राप्त होता है?

उत्तर—**कस्यापि जन्तो कलहं मिथो यः।**
उत्पाद्य कृत्वेति ततः कुवार्ताम्।
कृत्वापवादं विषमं ह्यतुष्यत्।
स च व्यथादं लभते कुटुम्बम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी भी मनुष्यके साथ परस्पर कलह कराकर प्रसन्न होता है अथवा न कहने योग्य दुष्ट वचनों को कहकर प्रसन्न होता है वा किसीको भारी कलङ्क लगाकर प्रसन्न होता है ऐसे पुरुषको परलोकमें जाकर दुःख देनेवाला कुटुम्ब प्राप्त होता है।

भावार्थ—कुटुम्बके लोग सुख देनेके लिये होते हैं। माता पिता सुख देते ही हैं, भाई सुख देते ही हैं तथा स्त्री पुत्र भी

सुख पहुँचाते ही हैं। परन्तु जो कुटुम्बी लोग प्रत्येक समयमें दुःख देते रहें, बुरे शब्द कहते रहें ऐसे कुटुम्बी लोग पाप कर्मके उदय से ही प्राप्त होते हैं। ऐसे कुटुम्बियोंको एक प्रकारसे शत्रु ही समझना चाहिये। जो पुरुष अनेक मनुष्योंसे परस्पर कलह कराते रहते हैं, एक दूसरे को लड़ाते रहते हैं वा एकके द्वारा दूसरेको दुःख पहुँचाते रहते हैं वा सदाकाल अशिष्ट वचन कहते रहते हैं वा दूसरोंसे कहलवाते रहते हैं, अथवा जो दूसरों की झूठी निन्दा करते रहते हैं वा कराते रहते हैं, जो दूसरों को मिथ्या कलङ्क लगाते रहते हैं वा अन्य ऐसे ही ऐसे काम करते रहते हैं ऐसे मनुष्य मरकर दुःख देनेवाले कुटुम्बियोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। तथा वहांपर अपने उस पापकर्म के उदयसे उन कुटुंबियों के द्वारा दिये हुये महादुःख भोगते रहते हैं। यही समझकर कभी किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये, कभी किसी के लिए अशिष्ट वचन नहीं कहने चाहिए, और कभी किसीको कलङ्क नहीं लगाना चहिए।

आगे दुष्ट स्वभाव होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।**
दुष्टस्वभावो भवतीह जीवः॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से दुष्ट स्वभाववाला होता है।

उत्तर—**यश्चागतः श्वभ्रगतेः कुबुद्धि-**
र्बध्वा नरायुः प्रथमं हि पश्चात्।
भवेत्कुमार्गी खलसंगकारी।
मृत्वा स जीवः खलु दुष्टभावः॥ २०॥

अर्थ—जो पुरुष नरकगति से आया हो, वा कुबुद्धिको धारण करनेवाला हो, अथवा जिसने पहले मनुष्य आयु का वन्ध कर लिया हो और फिर वह कुमार्गगामी होगया हो अथवा जो पुरुष दुष्टोंकी संगति में रहता हो ऐसा पुरुष मरकर दुष्ट स्वभाव को धारण करने वाला होता है।

भावार्थ—जो जीव अत्यन्त पाप करता है वह नरक में जाता है। तथा उन पापों के फल की परम्परा नरक में ही समाप्त नहीं होती किंतु नरकसे निकलकर प्राप्त होनेवाली पर्याय में भी आती ही है। यही कारण है कि जो जीव अत्यन्त घोर पापों के कारण सातवें नरक में जाता है वह जीव सातवें नरक से निकलकर सिंह, सर्प आदि घातक योनि में ही उत्पन्न होता है और वहां पर भी अनेक महापाप उत्पन्न कर फिर नरक ही जाता है। इसी प्रकार जो जीव नरक से आता है उसके परिणाम दुष्ट ही होते हैं। यहां पर इतना और विशेष समझ लेना चाहिए कि जो जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं वे ही जीव नरक से निकलकर दुष्ट स्वभाव वाले होते हैं। क्योंकि ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के परिणाम नरक में भी दुष्ट ही रहते हैं। परंतु जिन्हें नरकमें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है अथवा जिन्होंने नरक जानेसे पहले भवमें नरकायु का बन्ध कर लेनेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टियों के परिणाम नरक में भी दुष्ट नहीं होते, फिर भला वहांसे निकले तो वे दुष्ट परिणामी कैसे हो सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं हो सकते। इस-लिए जो मिथ्यादृष्टि जीव नरक से निकलकर उत्पन्न होते हैं वे दुष्ट

स्वभाववाले ही होते हैं। अथवा पुण्यकर्म के क्षय होने से जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा बुद्धिभ्रष्ट होने से जो धर्मकार्यों को लोपकर पापरूप कार्य करने लग जाते हैं ऐसे लोग भी मरकर परलोक में दुष्ट स्वभाववाले ही होते हैं। अथवा जिन जीवों ने पहले तो मनुष्य आयु का बन्ध कर लिया है और उसके अनन्तर कुमार्गमें वा अनेक प्रकार के पाप करने में प्रवृत्त हो गये हैं ऐसे जीव भी मरकर दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य ही होते हैं। इसका भी कारण यह है कि आयुबन्ध कभी छूटता नहीं है। जो मनुष्य-आयु का बन्ध हो जाता है फिर वह छूटता नहीं फिर वह मरकर मनुष्य ही होता है। परन्तु मनुष्य-आयु का बन्ध कर लेनेके अनन्तर जो कुमार्ग गामी हो जाता है वह मनुष्य तो होता है परन्तु दुष्ट-स्वभाववाला ही होता है तथा उस दुष्ट-स्वभाव के कारण अनेक प्रकार के पाप किया करता है। इसी प्रकार जो पुरुष दुष्ट पुरुषों की संगति में रहता है वह भी इन दुष्टों की संगति से अनेक प्रकार के पाप किया करता है। और मरकर दुष्ट स्वभाववाला होता है। यही समझकर श्रावकों को कुमार्ग से दुष्टोंकी संगतिसे और सब प्रकारके पापों से सदाकाल बचते रहना चाहिए।

आगे भयभीत होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मा-**
ज्जीवोभवेत्कौ भयवान् सदा हि।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से भयभीत होता है।

उत्तर—राज्ञस्तथा भूतपिशाचकानां।
हृत्वा धनादिं च भयं प्रदर्श्य ॥
निष्कास्य गेहान्मनुजं च हत्वा।
मृत्वा स जीवो हि भयान्वितः स्यात् ॥२१॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी भी प्रकार का भय दिखलाकर किसी राजा का वा भूत पिशाचों का धन हरण कर लेता है वा किसी मनुष्य को घर से निकाल देता है वा घर से निकालकर मार देता है ऐसा जीव मरकर सदाकाल भयभीत रहता है।

भावार्थ—जो मनुष्य किसी प्रकार का भी पाप करता है वह पुरुष सदाकाल उस पाप के भयसे भयभीत होता रहता है। फिर भला जो राजा को भी भय दिखलाकर उसका धन हरण कर लेता है उसे तो सदाकाल भयभीत बना रहना ही चाहिये। इसी प्रकार भूत पिशाचों का धन हरण कर लेना भी भय का कारण है। यद्यपि भूत पिशाचों का निजका कोई धन नहीं होता और न उन्हें कभी भी धन की आवश्यकता पड़ती है वे तो व्यंतरदेव हैं, जो भूख की इच्छा होने पर अपने ही कंठ से झरे अमृत को पीकर तृप्त हो जाते हैं परन्तु जो कोई कृपण मनुष्य अपने धन को धर्मकार्यों में वा खाने पीने में खर्च नहीं करता है वह मनुष्य किसी भी पुण्यकार्य के निमित्त से वा पुण्यकर्म के निमित्तसे व्यंतरदेव होता है। तथा वह देव अपने पूर्वभव में संचित किये गये धनकी रक्षा करता रहता है। वही धन उस व्यंतरदेव का कहलाता है। जो कोई मनुष्य उस धनको भी हरण कर लेता है वह मनुष्य भी

इस लोक में सदाकाल भयभीत रहता है और मरकर परलोक में भयभीत ही बना रहता है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी भी अन्य मनुष्य को घर से निकालकर मार देता है वह भी मरकर सदाकाल भयभीत ही रहता है। इस संसार में अनेक ऐसे पक्षी हैं वा अनेक ऐसे पशु हैं जो सदाकाल भयभीत ही बने रहते हैं। हिरण कबूतर आदि पशु पक्षी सदाकाल भयभीत ही बने रहते हैं। यही समझकर किसी को भय नहीं दिखलाना चाहिये वा किसी का धनादिक हरण नहीं करना चाहिये।

आगे अशक्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा-**
ज्जीवो भवेद्बाल्यभवे ह्यशक्तः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से बालकपन से ही अशक्त होता है?

उत्तर—**निर्दोषजन्तोर्वसनान्नपानं ।**
रुन्ध्वा तथा हिंसनमेव कृत्वा ।
बध्वा ह्यतुष्यद् भुवि हीनजन्तून् ।
मृत्वा स दुष्टश्च भवेदशक्तः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो पुरुष निर्दोष जीवों के वस्त्रों को वा उनके अन्न पान को हरण कर लेता है, अथवा जो निर्दोष जीवों को मारकर संतुष्ट होता है अथवा जो छोटे छोटे जीवों को बांधकर पकड़कर वा मारकर संतुष्ट होता है वह जीव मरकर परलोक में भी दुष्ट और अशक्त होता है।

भावार्थ—अशक्त और निर्दोष जीवोंका अन्नपान रोक देना महापाप है। यद्यपि असमर्थ जीव कुछ कर नहीं सकते तथापि वे असमर्थ होनेके कारण नितान्त दुःखी होते हैं। इसलिये असमर्थ जीवोंको सताना या दुःख देना महापाप कहलाता है। इसीप्रकार ऐसे असमर्थ जीवोंको मारना वा पकड़कर पिंजरोंमें रख लेना वा रस्सी सांकलसे बांधकर रखना भी महापाप है स्वतंत्र उड़नेवाले जीवोंको जो बाहर आनन्द आता है वह आनन्द पिंजरों में बन्द होकर आराम से रहनेपर भी कभी नहीं आसकता। सोने के पिंजरेमें भी बन्द हुए पक्षी कारागारमें पड़े हुये मनुष्यके समान महादुखी होते हैं। इसीलिए असमर्थ जीवोंको पकड़ना बांधना वा मारना महापाप कहलाता है। तथा उस पापकर्म के उदय से ऐसे जीव मरकर असमर्थ ही होते हैं। तथा पहले भवमें जिन जीवोंको पकड़ा था जिनको बांधा था वा जिनको मारा था वे ही जीव उस असमर्थ जीवको पकड़ते हैं, बांधते हैं वा मारते हैं। यही समझकर कभी भी असमर्थ जीवको नहीं सताना चाहिये न रस्सीसे बांधना चाहिये और न उन्हें पिंजड़े में बन्द करना चाहिये।

आगे कृपण होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मा--**
न्मृत्वेति जीवः कृपणो भवेत्कौ।

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्म के उदयसे यह जीव मरकर कृपण होता है।

उत्तर—विघ्नानि दाने करणान्निरोधाद् ।
धर्मे धनादिव्ययकर्तुरेव ।
धनार्जने ह्येव विशेषलोभा-
न्मृत्वा स मर्त्यः कृपणो भवेत्कौ ॥ २३ ॥

अर्थ—जो कोई पुरुष दान देनेमें अनेक विघ्न करता है, वा धर्ममें धन खर्च करनेवालेको रोकता है, अथवा धनके उपार्जन करनेमें विशेष लोभ करता है वह मनुष्य मरकर इस पृथ्वी पर कृपण ही होता है ।

भावार्थ—अपने आत्माका उपकार वा कल्याण करनेके लिये तथा अन्य तपस्वी आदिका कल्याण करनेके लिये जो दान दिया जाता है उसको दान कहते हैं । ऐसा दान पात्रदान ही होता है । निर्ग्रंथगुरु उत्तमपात्र कहलाते हैं । उनको आहारादिकका दान देना उत्तमदान कहलाता है । सम्यग्दृष्टि श्रावक मध्यम-पात्र कहलाते हैं तथा अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र कहलाते हैं इनको दान देना भी मध्यम दान है । इसके सिवाय दुःखी जीवों को भोजनादिकका देना करुणा दान है श्रावक लोग जो परस्पर लेते देते हैं । उसको समान दान कहते हैं । ये सब दान श्रेष्ठदान कहलाते हैं इसके सिवाय जिनालय, जिनप्रतिमा, तीर्थक्षेत्र, धार्मिक शिक्षा धार्मिक शिक्षणके पोषक, लौकिक शिक्षा आदिके लिए देना भी श्रेष्ठदान है । जो पुरुष श्रेष्ठदानमें वा पात्रदान में विघ्न करता है वह भी मरकर परलोकमें कृपण होता है अथवा जो कोई धनी पुरुष जिनालय वा जिनप्रतिमा बनवाने के लिए धन खर्च करना

चाहता हो और उसको जो कोई पुरुष रोक देता है वह भी मर कर कृपण ही होता है अथवा जो पुरुष धन उपार्जन करनेमें अत्यन्त लोभ करता है वह भी मरकर कृपण ही होता है। यही समझकर श्रेष्ठदानमें कभी विघ्न नहीं करना चाहिए, धर्मकार्य को कभी रोकना नहीं चाहिए और मात्रा से अधिक लोभ कभी नहीं करना चाहिये। इसके सिवाय सदा श्रेष्ठदान देते रहना चाहिए, धर्मकार्योंको करते कराते रहना चाहिए और अहिंसाके साधनोंसे धनका उपार्जन करना चाहिए।

आगे मूर्ख होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।**
जीवोन्यलोके भवतीह मूर्खः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदयसे परलोकमें जाकर मूर्ख होता है।

उत्तर—**शास्त्रस्य निन्दा विदुषां कृता वा।**
चित्तं सुविद्यापठने न दत्तम्।
येनापमानः सुगुरोः कृतः कौ
मृत्वा स मूर्खो भवति ह्यभाग्यः ॥ २४ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मोन्नति के साधक शास्त्रोंकी निन्दा करता रहता है अथवा लोक हितैषी विद्वानोंकी निन्दा किया करता है अथवा जो पुरुष आत्मोन्नति के साधक शास्त्रोंके पठन-पाठनमें अपना चित्त नहीं लगाता अथवा जो मूर्ख श्रेष्ठ वीतराग साधुओंका अपमान करता रहता है वह पुरुष मरकर भाग्यहीन मूर्ख होता है।

भावार्थ—इस संसारमें मोक्षकी प्राप्ति आत्मज्ञान से होती है तथा आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान शास्त्रोंसे होता है। अथवा उन शास्त्रों के अनुसार आत्माके यथार्थ स्वरूपको बतलानेवाले विद्वानोंके धर्मोपदेशसे भी आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है। अथवा चित्त लगाकर अध्यात्म शास्त्रों के पठन पाठन करनेसे भी आत्माके स्वरूपका ज्ञान होता है। अथवा वीतराग निर्ग्रंथगुरु अपनी शान्तमुद्रासे ही मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप बतलाते रहते हैं। इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार शास्त्र, विद्वान् अध्यात्मशास्त्रों का पठन पाठन और वीतराग निर्ग्रंथगुरु ये सब मोक्षके कारण हैं। जो पुरुष इनकी निन्दा करता है वा इनका अपमान करता है अथवा शास्त्रोंके पठन पाठनमें आलस्य करता है अथवा इनकी विनय नहीं करता वह पुरुष मरकर अवश्य ही भाग्यहीन मूर्ख होता है। यही समझकर शास्त्रोंकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये, विद्वानोंकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये, और गुरुओं की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये।

आगे—पराधीन होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्मिन् कुकार्ये च कृते सदायं।**
जीवो भवेदेव पराश्रयः कौ ॥

अर्थ-हे भगवन् अब कृपाकर यह बतलाइये कि कौन कौन से कुकर्म करनेसे जीव सदाकाल पराधीन रहता है?

उत्तर—धृत्वातिदीनानपराधमुक्तान् ।
स्वस्थान् बलाद्बन्दिगृहे निपात्य ।
रुध्वान्नपानं च ततो ह्यतुष्यत् ।
पराश्रयः स्यान्मनुजः स मृत्वा ॥ २९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वस्थ होकर भी अत्यन्त दीन हैं और अपराध रहित हैं ऐसे लोगों को बलपूर्वक पकड़कर जो बंदीगृह में डाल देते हैं और फिर उन बन्दीगृह में डाले हुए मनुष्यों का अन्न बंदकर संतुष्ट होते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोक में पराधीन होते हैं।

भावार्थ—निरपराध जीवों को पकड़कर बन्दीगृह में डालना उनकी स्वतन्त्रता का हरण कर महादुःख देना है। बहुत से लोग अच्छे अच्छे पक्षियों को पकड़कर पिंजड़ोंमें बन्द कर देते हैं। अनेक पशुओं को पकड़ कर बड़े २ जालियों के बने हुये पिंजड़ों में बंद कर देते हैं। अपने आमोद प्रमोद के लिये अनेक पशुपक्षियों को पकड़कर बन्दीगृह में डाल देते हैं तथा कभी कभी समय पर उनका अन्न पान भी रुक जाता है, अथवा बहुत कम मिलता है जिससे वे पशु पक्षी बहुत दुखी होते हैं। इसी प्रकार कभी कभी राज कर्मचारी निरपराध मनुष्योंको बन्दीगृह में डाल देते हैं तथा उनको नियमानुसार भोजन भी नहीं देते। अथवा उस भोजनमें निकृष्ट पदार्थ मिलाकर उसको अखाद्य और अरुचिकर बना देते हैं। और वह भोजन उन बन्दियों को देते हैं इस प्रकार वे लोग थोड़ीसी सत्ता मिलजाने पर महापाप उत्पन्न करते हैं और उस पापके फल से परलोक में जाकर सदाकाल पराधीन रहते हैं। और जिस प्रकार

उन्होंने सबको दुखी किया था उसी प्रकार महादुख पाते हैं।

आगे भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त होने पर भी भोगोपभोग क्यों नहीं कर सकते यही बतलाते हैं !

प्रश्न—लब्धे सुयोग्ये सकले पदार्थे ।
न भुज्यते किं वद मे कृपाब्धे !

अर्थ—हे भगवन् ! कृपानिधान ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि समस्त सुयोग्य पदार्थों के प्राप्त होनेपर भी यह जीव उसका भोगोपभोग क्यों नहीं कर सकता।

उत्तर—कृतः कुविघ्नः शयनासनादौ ।
यैर्द्वेषबुध्या वरभोजनादौ ।
क्षुधातुराणां हि कृतोऽपमानो ।
लब्धे पदार्थेऽपि न भुज्यते तैः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनी द्वेषबुद्धि से किसी के शयन, आसन आदि उपभोगों के पदार्थों में विघ्न करते हैं, अथवा किसीके भोजन आदि भोगों के पदार्थों में विघ्न करते हैं अथवा जो पुरुष अत्यंत भूखे मनुष्यों को देखकर उनका अपमान करते हैं वे मनुष्य भोगोपभोग की सामंग्री प्राप्त होने पर भी उसका उपभोग नहीं कर सकते।

भावार्थ—किसी के भोगोपभोगों में विघ्न करने से अंतराय कर्मका आस्रव होता है तथा वह अंतरायकर्म उदयमें आता है तब वह कर्म का उदय उसके भोगोपभोग में भी विघ्न कर देता है।

इसी प्रकार भूखे, प्यासे, वस्त्रहीन, नंगे आदि निर्धनों का वा दुःखी जीवों का अपमान करने से भी निर्धन वा दुःखी होना पड़ता है। ऐसे जीव मरकर धनियों के कुल में तो उत्पन्न होते हैं तथा उनके हाथी, घोड़े, रथ, पियादे उत्तम उत्तम भोजन, पान, शयन, आसन आदि की समस्त सामग्रियां भी विद्यमान रहती हैं सुंदर स्त्रियां भी रहती हैं परंतु वे लोग अपने कर्म के उदयसे उन पदार्थों में से किसी भी पदार्थ का उपभोग नहीं कर सकते। वे या तो सदाकाल रोगी रहते हैं अथवा उनके लिए कोई ऐसा बलवान् प्रतिबन्धक मिल जाता है जिससे वे किसी का भोग वा उपभोग नहीं कर सकते। यही समझकर किसी के किसी भी काम में कभी विघ्न नहीं करना चाहिये। हां! यदि कोई किसी जीवकी हिंसा करता हो वा अन्य कोई चोरी व्यभिचार आदि पापकार्य करता हो तो उसमें विघ्न करना वा उसको रोक देना अंतरायका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि पापकार्यों में विघ्न करने में मलिन परिणान वा अशुभ परिणाम नहीं होते। शुभ परिणामों से ही पाप कार्यों की रुकावट होती है।

आगे कुरूप होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव! कस्माद्।**
मृत्वा कुरूपो भवतीह जीवः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से कुरूप होता है।

उत्तर—कुरूपजीवस्य कृतापमाना-
दारोपणाद् दिव्यतनौ मलादेः ।
तद्रूपहान्यै च कृतप्रयासात् ।
मृत्वा कुरूपः स भवेदभाग्यः ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पुरुष किसी कुरूपी जीव का अपमान करता है अथवा किसी के सुन्दर शरीर में किसी प्रकार मल लगाकर उसे बिगाड़ना चाहता है अथवा किसी के सुंदर शरीर की सुंदरता बिगाड़ने के लिए किसी भी प्रकार का कुत्सित प्रयत्न करता है, वह पुरुष मरकर भाग्यहीन कुरूपी होता है ।

भावार्थ—इस संसार में ऐसे भी जीव हैं जो दूसरों की सुंदरता को नष्ट करने के लिए भारी प्रयत्न करते हैं । यदि किसी सुंदर पुरुष का अंग वा उपांग बिगड़ जाता है तो बड़े प्रसन्न होते हैं और वह जब कुरूप हो जाता है तब उसका अपमान करते हैं। किसी दूसरे के सुन्दर पुत्र के शरीरमें कालोंछ लगाकर वा बिढंगे वस्त्र पहनाकर उसका रूप ढकना चाहते हैं वा बिगाड़ना चाहते हैं अथवा अपनी हानि उठाकर भी दूसरे के सुन्दर शरीरके अङ्ग उपाङ्ग बिगाड़कर उसे कुरूप बनाना चाहते हैं, ऐसे लोग मरकर अपने दुष्ट स्वभाव के कारण कुबड़े, काने, लूले, लङ्गड़े, कंजे, काले, कुरूपी ही होते हैं । अतएव श्रावकों को अपने दुष्टपरिणाम कभी नहीं करने चाहिए, अपने परिणाम सदा शुभ ही रखने चाहिये ।

आगे जो पुरुष श्रेष्ठ पदार्थों के होते हुए भी उनका उपभोग नहीं कर सकते उसका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—सद्वस्तुभार्यादिकविद्यमाने।
किं भुज्यते नैव गुरो ! वदाद्य ॥

अर्थ—हे गुरो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि सुन्दर भार्या आदि श्रेष्ठ पदार्थों के विद्यमान होते हुए भी यह जीव उनका उपभोग क्यों नहीं कर सकता ?

उत्तर—दृष्ट्वा परेषां प्रियवस्तु भार्यां।
चित्तेऽपि तोषो हृदि यस्य नास्ति ॥
तत्सेवनेच्छा खलु वेत्सि तेन।
न भुज्यते सत्यपि सत्पदार्थे ॥ २८ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूसरोंकी सुन्दर स्त्रियों को देखकर अथवा किसीके श्रेष्ठ पदार्थ देखकर अपने हृदय में संतोष धारण नहीं करते अथवा उनके सेवन करने की इच्छा करते हैं वे पुरुष परलोक में जाकर अपने घर उत्तम से उत्तम पदार्थ रहने पर भी अथवा सुन्दर से सुन्दर स्त्री रहनेपर भी किसी का उपभोग नहीं कर सकते।

भावार्थ—संसारमें जो जो पदार्थ प्राप्त होते हैं वे सब अपने अपने कर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं। पुण्यकर्मके उदयसे श्रेष्ठ पदार्थ प्राप्त होते हैं। और पापकर्मके उदय से अनिष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं। ऐसी अवस्थामें किसीके श्रेष्ठ पदार्थोंको देखकर संतुष्ट न होना वा असंतोष धारण करना हृदय की अज्ञानता है। इसी अज्ञानता से महापाप उत्पन्न होते हैं तथा इसी अज्ञानता के कारण कितने ही लोग दूसरे के श्रेष्ठ पदार्थों को वा दूसरोंकी सुन्दर स्त्रियोंको सेवन करनेकी इच्छा करते हैं। परंतु अपने पापकर्म के

उदय से वे ऐसे पदार्थोंका उपभोग तो क्या कर सकते हैं किन्तु उन पापकर्म करने की इच्छासे ये ऐसे पापकर्मों का बन्ध करते हैं जिससे वे परलोक में जाकर रोगी या नपुंसक होते हैं और इसी कारण से वे न तो अपनी ही सुन्दर स्त्रियों का उपभोग कर सकते हैं और न अपने घर में रहनेवाले अन्य पदार्थों का उपभोग कर सकते हैं। अतएव दूसरे के पदार्थोंको देखकर कभी असंतोष धारण नहीं करना चाहिये।

आगे क्रोधी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्यो वद देव ! कस्मा।**
दत्यन्तक्रोधी भवतीह जीवः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से अत्यंत क्रोधी होता है।

उत्तर—**क्रोधी स्वयं कुप्यति वा ह्यतुष्यत्**
क्रुध्यन्तमेवापि मिथो विलोक्य।
पूर्वोक्तसंस्कारवशात् स कोपि।
भवत्यवश्यं भवदुःखभोगी ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अत्यंत क्रोधी होते हैं। अथवा जो दो चार मनुष्यों को परस्पर क्रोध करते हुये देखकर वा लड़ते हुये देखकर संतुष्ट होते हैं ऐसे पुरुष अपने पहले के संस्कारके निमित्तसे अत्यंत क्रोधी होते हैं और फिर संस्कारके महादुःख भोगा करते हैं।

भावार्थ—क्रोधका होना समस्त पापोंका कारण है। क्रोधी मनुष्य अन्य अनेक जीवों की हिंसा करता है, यहां तक कि कभी

कभी वह क्रोधके आवेशमें आकर अपनी आत्महत्या भी कर लेता है। इस संसारमें आत्महत्या महापाप मानी जाती है और इसीलिये यह नरक का कारण कही जाती है। इससे सिद्ध होता है कि क्रोध करना महापाप का कारण है। जो लोग पहले भव में अत्यन्त क्रोध करते हैं वा दूसरों को लड़ते झगड़ते देखकर दूसरों को क्रोध करते देखकर, प्रसन्न होते हैं, अथवा जो तीतर बटेरों को लड़ाकर वा अन्य पशुओं को लड़ाकर प्रसन्न होते हैं। ऐसे मनुष्य उस पाप के कारण अत्यंत क्रोधी मनुष्य होते हैं। अत एव भव्य जीवों को क्रोध कभी नहीं करना चाहिए, क्रोध से सदा बचते रहना चाहिये।

आगे निंदनीय होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव! कस्माद्।**
निंद्यो भवेच्चान्यभवे हि जीवः॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव परलोकमें जाकर किस पापकर्मके उदय से अत्यन्त निंदनीय होता है।

उत्तर—**तपःप्रदोषं च हठात्प्रसार्य।**
यः कीर्तये वापि धनं ससर्ज॥
पाषण्डिसाधोरकरोत्प्रशंसां।
निंद्यो भवेच्चान्यभवे स मृत्वा॥ ३०॥

अर्थ—जो पुरुष हठपूर्वक तपश्चरणमें दोष लगाता है, वा केवल अपनी कीर्ति के लिए अपना धन खर्च करता है। अथवा जो पाखंडी साधुओं की प्रशंसा करता रहता है वह पुरुष मरकर अन्य भवमें जाकर अत्यन्त निंदनीय होता है।

भावार्थ—यह नियम है कि जो पुरुष दूसरों की झूठी निंदा करता है वह स्वयं निंदनीय होता है। फिर भला जो पुरुष मोक्ष के साक्षात् कारण ऐसे यथार्थ तपश्चरण में दोष लगाता है वा उस तपश्चरण को धारण करनेवाले तपस्वियोंमें दोष लगाता है वह अवश्य ही अत्यन्त निंदनीय होता है। श्रेष्ठ तपश्चरण वा श्रेष्ठ तपस्वियोंमें दोष लगाना मोक्ष से घृणा करना है। इसलिए ये दोनों ही कार्य अत्यन्त तीव्र-मिथ्यात्वकर्म के उदय से ही होते हैं तथा इनसे भी फिर और अधिक तीव्र मिथ्यात्वकर्म का बन्ध होता है। उस तीव्र मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वह जीव मरकर अत्यन्त निंदनीय योनि में उत्पन्न होता है अथवा स्वयं अत्यंत निंदनीय होता है। अथवा जो पुरुष अपने धन को धर्मकार्यों में खर्च न कर केवल अपनी कीर्ति के लिए खर्च करता है, अथवा मिथ्यातपश्चरण करनेवाले पाखंडी साधुओं की जो प्रशंसा करता है वह भी मरकर निंदनीय होता है। इसका भी कारण यह है कि धन की प्राप्ति धर्मसे होती है। धर्म से प्राप्त हुए धनको धर्ममें ही खर्च करना चाहिए। जो पुरुष अपने धन को धर्म में खर्च करते हैं उनको विशेष पुण्यकर्मकी प्राप्ति भी होती है और कीर्ति भी होती है। परन्तु जो पुरुष केवल कीर्ति के लिये अपना धन खर्च करते हैं उस धनको धर्मकार्य में नहीं लगाते ऐसे पुरुषों का धन भी नष्ट हो जाता है, कीर्ति के बदले उनकी अपकीर्ति होती है और ऐसे पुरुष मरकर अत्यन्त निंदनीय होते हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि तपस्वियों की प्रशंसा मिथ्यादृष्टि ही करते हैं और उसी मिथ्यात्व

कारण वे निंदनीय होते हैं। यही समझकर श्रेष्ठ तपश्चरण में कभी दोष नहीं लगाना चाहिए, मिथ्या तपस्वियों की प्रशंसा कभी नहीं करनी चाहिये। और अपना धन केवल धर्मकार्यों में ही लगाना चाहिये।

आगे आदर सत्कार प्राप्त न होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**सुयाचमाने लभते न मानं।**
किं कारणं तत्र वद प्रभो! मे।

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि बहुत से लोग अपने आदर सत्कार की याचना तक करते रहते हैं तथापि उनको आदर सत्कार प्राप्त नहीं होता इसका क्या कारण है?

उत्तर—**विद्याभिमानान्न नुतिः स्तुतिर्यैः**
कृता न साधोर्विनयोपचारः।
धर्माद्विरुद्धापि कृता प्रवृत्तिः।
सुयाचमाने लभते न मानम्॥ ३१॥

अर्थ—जो पुरुष अपनी विद्या के अभिमान से न निर्ग्रंथ वीतराग साधुओंको नमस्कार करते हैं, न उनकी स्तुति करते हैं न उनका विनय करते हैं और न उनकी सेवा करते हैं, तथा जो पुरुष सदाकाल धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति करते रहते हैं ऐसे पुरुष याचना करने पर भी आदर सत्कार को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ—मोक्षमार्ग में विद्या का कुछ मूल्य नहीं है। मोक्ष मार्गमें तो सम्यक्चारित्र का मूल्य है। पहले स्वर्ग का इन्द्र अंग

पूर्व का पाठी होता है तथापि वह हाल के दीक्षित हुये मुनि को नमस्कार करता है। इससे सिद्ध होता है इस संसार में सम्यक् चारित्र ही पूज्य है। ऐसे सम्यक् चारित्र को धारण करनेवाले साधुओंको जो पुरुष अपनी विद्याके अभिमानसे वा धनादिकके अभिमान से नमस्कार नहीं करता है वा उनकी स्तुति नहीं करता है अथवा उनका विनय नहीं करता है वा उनकी सेवा नहीं करता. ऐसा पुरुष मरकर दूसरे जन्म में जाकर इतना निम्न श्रेणी का होता है कि आदर सत्कार की अत्यन्त लालसा करने पर भी वा आदर सत्कार की याचना करने पर भी कोई भी पुरुष उसका आदर सत्कार नहीं करता। इसी प्रकार जो पुरुष धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति करता है, देव-शास्त्र-गुरु का विनय नहीं करता वा व्यर्थका अभिमान करता रहता है वह पुरुष भी मर कर नीच मनुष्य होता है, और फिर कोई भी जीव उसका आदर सत्कार नहीं करता। इसलिये भव्यपुरुषों को कभी अभिमान नहीं करना चाहिये तथा देव शास्त्र गुरु का कभी अविनय नहीं करना चाहिये।

आगे शस्त्रादिकसे मरनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।**

शस्त्रास्त्रयोगाद् म्रियते हि जीवः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्म के उदय से यह जीव शस्त्र अस्त्र से मारा जाता है।

उत्तर—**वधस्य शंसाप्यनुमोदनादिः ।**

कृतोपदिष्टश्च वधाद्युपायः ॥

दुष्टं चरित्रं चरितं च येन ।
स चान्यशस्त्रैर्म्रियते मनुष्यः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य जीवों की हिंसाकी प्रशंसा करते हैं, वा उसकी अनुमोदना करते हैं, अथवा जो हिंसा के अनेक उपाय बतलाते हैं, वा जो अनेक प्रकार के दुष्ट चरित्र करते रहते हैं ऐसे जीव प्रायः दूसरों के अस्त्र शस्त्रों से मारे जाते हैं ।

भावार्थ—जीवों की हिंसा करना महापाप है और साक्षात् नरक का कारण है । जिस प्रकार जीवों की हिंसा करना महापाप है उसी प्रकार जीवों की हिंसा की प्रशंसा करना वा हिंसा की अनुमोदना करना अथवा उस हिंसा के उपाय बतलाना आदि सब महापाप माने जाते हैं । जो पुरुष इन महापापों को करता है वह अवश्य ही अस्त्र शस्त्रोंसे मारा जाता है इसका भी कारण यह है कि अस्त्र शस्त्रसे मारा जाना भी महापापकर्मके उदयसे होता है और उस महापापका बन्ध हिंसा करनेसे ही होता है । अथवा ऐसा महापाप दुष्टचारित्रको धारण करनेसे भी होता है । सातों व्यसनोंका सेवन करना दुष्टचरित्र है, देव शास्त्र गुरु में मिथ्यादोष लगाना, वा उनकी आज्ञाके विपरीत चलना महापाप है । शास्त्रोंके विपरीत अर्थ लगाकर विषयों को पुष्ट करना भी महापाप है । इन सब पापोंके उदयसे यह जीव अस्त्र शस्त्रोंसे मारा जाता है । यही समझ कर भव्यजीवों को हिंसादिक दुष्कर्म कभी नहीं करने चाहिए ।

आगे चोर होने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा-**
ज्जीवः परत्रापि भवेद्धि चौरः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्मके उदयसे यह जीव परलोकमें भी जाकर चोर होता है।

उत्तर—**चौरस्य शंसाप्यनुमोदनादिः ।**
चौरप्रयोगोऽपि कृतश्च येन ॥
इच्छा परेषां बहुरत्नराज्ये ।
मृत्वा स चौरो भवति ह्यभाग्यः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो पुरुष चोरोंकी प्रशंसा करता है वा उनकी वा उनके द्वारा की हुई चोरीकी अनुमोदना करता है अथवा चोरी का प्रयोग बतलाता है वा दूसरों के अनेक रत्नों की वा किसी राज्य की इच्छा करता है वह मनुष्य मरकर अवश्य ही भाग्यहीन चोर होता है।

भावार्थ—जो पुरुष अधिक लोभी होता है, सदाकाल दूसरे के धन, धान्य, रत्न, राज्य, आदि को हड़पने की इच्छा करता रहता है, अथवा उनको चुराकर अपना करना चाहता है, अथवा उनको चुराकर लाने का उपाय बतलाता है वा प्रसिद्ध चोरोंकी प्रशंसा करता है, वा उनकी अनुमोदना करता है, अथवा चोरी के पदार्थों को अपने घर में रखता है अथवा और भी चोरी से प्रेम रखनेवाले कार्यों को करता है। वह मनुष्य मरकर अगले भव में भी चोर ही होता है। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि चोरी जैसे कार्य अभ्याससाध्य होते हैं

और इन कामोंमें पूर्व जन्म का संस्कार भी काम देता है। अभ्यास साध्य जितने कार्य हैं उनमें पूर्व संस्कार अवश्य काम देता है, ऐसे कार्य पूर्वसंस्कार से बहुत शीघ्र आजाते हैं। इसलिये भव्य जीवों को बुरे कामों का अभ्यास कभी नहीं करना चाहिये और न उसकी कभी अनुमोदना करनी चाहिये।

आगे क्रियाहीन होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—पापादयान्ये वद देव ! कस्मात् ।
क्रियाविहीनो हि भवेन्मनुष्यः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्म के उदय से यह मनुष्य क्रियाहीन होता है।

उत्तर—येन क्रियाहीननरप्रशंसा ।
कृता क्रियायुक्तनरप्रणिंदा ॥
विचारशून्या विषमा प्रवृत्तिः ।
क्रियाविहीनः स भवेदधर्मी ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इस जन्म में क्रियाहीन मनुष्यों की प्रशंसा करता रहता है, क्रियाओं को पालन करनेवाले मनुष्यों की निंदा किया करता है और जो स्वयं विचाररहित शास्त्र प्रतिकूल प्रवृत्ति करता रहता है वह अधर्मी मनुष्य परलोक में जाकर अवश्य ही क्रियाहीन होता है।

भावार्थ—यहां पर क्रिया शब्द का अर्थ क्रियाकांड है। भगवान भगवन्त की पूजन करना, साधुओं की सेवा सुश्रूषा करना, सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय करना, यथासाध्य व्रत

उपवास करना, दोनों समय भगवान् भगवंत का दर्शन करना, सूतक, पातक मानना, यज्ञोपवीत धारण करना, तिलक लगाना, तथा अन्य समस्त शास्त्रोक्त क्रियाओं का करना, क्रियाकांड कहलाता है। क्रियाओं के करने से धर्म की वृद्धि होती है, आत्मा की पवित्रता होती है और सम्यग्दर्शन की स्थिरता होती है। जो पुरुष इन क्रियाओं को नहीं मानता उसे तीव्र मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। ऐसा मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने तीव्रमिथ्यात्व के उदय से इन क्रियाओं की निंदा करते हैं, इनको ढोंग बतलाते हैं और इन क्रियाओं के पालन करनेवालों की निंदा करते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष उनके ही समान नास्तिकवादी मिथ्यादृष्टि हैं जो क्रियाकांड को सर्वथा नहीं मानते उनकी प्रशंसा करते हैं। अथवा दान पूजन आदि धार्मिक क्रियाओं का निषेध करते रहते हैं ऐसे पुरुष मरकर अवश्य महा अधर्मी और क्रिया संस्कारों से रहित म्लेच्छ होते हैं। अथवा नरक वा तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं जहां किसी प्रकार की क्रिया संस्कार नहीं करने पड़ते। यही समझकर भव्य जीवों को इन क्रियाकांडों का पालन अवश्य करते रहना चाहिये।

आगे पुत्र के वियोग का दुःख किस कारण से होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**कस्मिन् कुकृत्ये च कृते भवेत्कौ।**
मातुः पितुः पुत्रवियोगदुःखम्।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ऐसे कौनसे कुकर्म हैं जिनके करने से माता पिता को पुत्र के वियोग होने का दुःख प्राप्त होता है ।

उत्तर—**मातुः पितुः स्नेहकरीं प्रवृत्तिं ।**
दृष्ट्वेत्यकुप्यद्धि सधर्मिणां वा ।
द्रोहं व्यथादं प्रविलोक्य तुष्ये- ।
दित्यादि पापाद्विषमो वियोगः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो पुरुष माता पिता को स्नेह करनेवाली प्रवृत्ति को देखकर क्रोधित होता है अथवा धर्मात्मा भाइयों के परस्पर अनुराग को देखकर क्रोधित होता है और जो अत्यन्त दुःख देनेवाले परस्पर के ईर्ष्या द्वेष को देखकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष ऊपर लिखे पापों के फल से पुत्र पौत्रादिक के वियोग के दुःख को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—यह मोह के कारण अनादिकाल से लगा हुआ है । इसी मोह के कारण माता, पिता, भाई, बन्धु, पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्बी लोगों में परस्पर प्रेम हुआ करता है । उस प्रेम के कारण ही किसी का भी वियोग होने पर यह जीव दुःखी होता है । इन सबमें भी पुत्र का वियोग विशेष रीति से दुःख देने वाला होता है । परंतु धर्मात्मा पुरुषों में जो परस्पर प्रेम होता है वह मोह से नहीं होता है । किन्तु धर्म के अनुराग से होता है ऐसे धर्मानुराग को देखकर क्रोध करना वा उनमें द्वेष फैलाने का प्रयत्न करना महा

पापका कारण है। ऐसे पापों से ही पुत्र पौत्रों का वियोग देखना पड़ता है। इसी प्रकार जो पुरुष महादुःख देने वाले परस्पर के विरोध को देखकर संतुष्ट होता है वह भी परलोक में जाकर ऐसे ही विषम वियोगों को सहन करता रहता है। अतएव माता पिता के प्रेम में वा धर्मात्माओं के अनुराग में कभी विघ्न नहीं डालना चाहिए।

आगे भाई भाइयों के विरोध का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**नान्यत्प्रियं बंधुसमं हि वस्तु।**
कथं पुनश्चास्ति मिथो विरोधः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसार में भाई के समान अन्य कोई प्रिय पदार्थ नहीं है, ऐसा होने पर भी फिर भाई भाइयों में परस्पर विरोध क्यों होता है?

उत्तर—**मिथः स्वबंधोः पशुपक्षिकाणां।**
यः कारयित्वा कलहं विषादम्॥
कृत्वेत्यतुष्यत् स्वजनापमानं।
तस्यान्यजीवस्य भवेद्विरोधः॥ ३६॥

अर्थ—जो पुरुष भाई भाइयों में वा पशु पक्षियोंमें परस्पर कलह वा विषाद उत्पन्न कर प्रसन्न होता है अथवा जो अपने भाई वन्धुओं का अपमान करते हैं वे जीव परलोक में भी जाकर अपने भाई वन्धुओं से विरोध करते रहते हैं।

भावार्थ—वैर विरोध का संस्कार जन्म जन्मांतर तक जाता है। इसका भी कारण यह है कि क्रोध करने से वा परस्पर वैर

विरोध रखने से चारित्रमोहनीय कर्मका वन्ध होता है। तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी उत्कृष्टस्थिति चालीस कोड़ा कोड़ी सागर है। अर्थात् आवाधाकालको छोड़ कर इतने दिन तक वह कर्म अपना फल देता रहता हैं। इतने दिन तक यह जीव जितने जन्म धारण करता है उन समस्त जन्मों में उस एक वार वन्ध किये कर्म का फल इस जीव को प्राप्त होता रहता है। देखो, कमठने अपने भाई से विरोध किया था वह विरोध कमठके जीव की ओर से ही कितने ही भवतक चलता रहा तथा अन्त में भगवान् पार्श्वनाथके मोक्ष होने पर छूटा। यही समझकर भव्यजीवों को परस्पर कभी वैर विरोध नहीं करना चाहिये।

आगे—माता पुत्रका विरोध क्यों होता है सो दिखलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयात्स्याद् वद देव ! कस्माद्।**
मातुः सुपुत्रस्य मिथो विरोधः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अव कृपाकर यह वतलाइये कि श्रेष्ठ पुत्र और माता का परस्पर विरोध क्यों होता है।

उत्तर—**मातुः सुपुत्रस्य मिथो विरोधं।**
यः कारयित्वा विषमापमानात् ॥
मातुश्च तुष्येद् विदुषोऽपि सूनो-।
र्मात्रा समं तस्य मिथो विरोधः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो पुरुष माता और सुपुत्रका विरोध करा देता है, अथवा जो माताके घोर अपमानसे सन्तुष्ट होता है अथवा विद्वान पुत्र के घोर अपमानसे सन्तुष्ट होता है ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर माताके साथ विरोध करता रहता है।

भावार्थ—जो पुरुष जैसा कार्य करता है उसको वैसा ही फल मिला करता है। इस संसार में माता पिता दोनों ही पूज्य माने जाते हैं। दोनों ही गुरु हैं। पुत्रको सदाकाल उनका आदर सत्कार करते रहना चाहिये उनकी सेवा सुश्रूषा करनी चाहिये। परन्तु जो पुरुष अपने माता पिताओंसे, लड़ते झगड़ते रहते हैं वा उनको दुःख देते हैं वा उनके अपमानसे, उनके दुःखसे प्रसन्न होते हैं अथवा जो अपने विद्वान् पुत्रपर भी प्रेम नहीं करते उसके साथ भी वैर विरोध करते हैं ऐसे जीव परलोक में भी जाकर लड़ने झगड़ने वाले होते हैं तथा उनके साथ सब कोई वैर विरोध वा लड़ाई झगड़ा करता रहता है। यहां तक कि यदि ऐसा जीव मरकर किसी की माता होती है तो वह अपने श्रेष्ठ सुपुत्र से भी लड़ती रहती है। यही समझकर किसी के साथ वैर विरोध नहीं करना चाहिये।

आगे—यदि किसी स्त्री के गर्भ में भाग्यहीन पुत्र आता है तो वह कैसे जाना जा सकता है ? यही बतलाते हैं।

प्रश्न—**सुभाग्यहीनो ह्यु दरेऽस्ति पुत्रः।**
कथं प्रभो ! ज्ञायत एव नार्याः।

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यदि किसी स्त्री के गर्भमें कोई भाग्यहीन पुत्र आया हो तो वह कैसे मालूम हो सकता है।

उत्तर—**मातुश्च यस्या गमनात्सुगर्भे।**
ह्यापन्मिथः स्यात्कुमतिः पितुश्च ॥

अभक्ष्य भक्षे च भवेद्धि भावो।
हीत्यादि चिन्हैस्तनयो ह्यभाग्यः॥ ३८॥

अर्थ—जब कोई पुत्र किसी माता के गर्भ में आवे और उसके आते ही मातापर अनेक आपत्तियां आजांय अथवा पिताकी बुद्धि विपरीत हो जाय वा माता पिता दोनोंकी बुद्धि अभक्ष्य भक्षण में लग जाय अथवा उन दोनों की बुद्धि ऐसे ही निकृष्ट कार्यों में लग जाय तो इन चिह्नोंसे समझ लेना चाहिये कि इसके गर्भ में भाग्यहीन पुत्र है।

भावार्थ—गर्भ में जैसा पुत्र आता है माता पिता के भाव भी वैसे ही हो जाते हैं। तथा विशेषकर माताके भाव तो वैसे हो ही जाते हैं। यदि गर्भ में धर्मात्मा पुत्र होता है तो तीर्थयात्रा, देव पूजन, मुनिदर्शन, पात्रदान आदिके भाव होते हैं। यदि गर्भ में वीरपुत्र हो जाता है तो शत्रुओं को विजय करने के भाव होते हैं यदि गर्भ में दरिद्रपुत्र आता है तो उसकी माताके परिणाम दरिद्र रूप हो जाते हैं, अभक्ष्य पदार्थोंको भक्षण करने के परिणाम हो जाते हैं अथवा फटे पुराने वस्त्र पहनने के परिणाम हो जाते हैं। गर्भ के समय में माता के जैसे परिणाम होते हैं उनसे ही गर्भ में आये हुए पुत्र का भाग्य जाना जा सकता है।

आगे पिता पुत्र के विरोध का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात्।**
पितुः सुपुत्रस्य मिथश्च वैरम्॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि पिता पुत्र का विरोध किस पाप कर्म के उदय से होता है।

उत्तर—यः कारयित्वा विषमं विवादं ।
पित्रा समं पुत्रकलिं च दृष्ट्वा ॥
तुष्येन्न कुर्याद्विनयं गुरोश्च ।
पापादमुष्माच्च मिथो विरोधी ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो पुरुष एक दूसरे के साथ भारी विवाद कराता रहता है, जो पिता के साथ होनेवाली पुत्रकी कलह को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है वा जो गुरुजनों की विनय नहीं करता वह पुरुष इन पापकर्मों के उदय से परस्पर विरोध करने वाला उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—जो पुरुष इस भव में माता पिता के साथ वा विशेष कर गुरुके साथ विरोध करता है, उनका विनय नहीं करता, वा उसके साथ वाद विवाद करता है, वा किसी पिता पुत्रके लड़ाई झगड़े को देखकर प्रसन्न होता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे काम करता है वह पुरुष परलोक में भी अपने पिता के साथ वा गुरुजनों के साथ अथवा पुत्र वा शिष्य के साथ सदा काल विरोध करता रहता है। अथवा सब से लड़ता झगड़ता रहता है। यही समझकर किसी के साथ भी लड़ाई झगड़ा नहीं करना चाहिये ।

आगे लङ्गड़ा होने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—कर्मोदयान्मे वद देव कस्मात् ।
पादेन खंजो भवतीह जीवः ।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से लङ्गड़ा होता है ।

उत्तर—छिन्नौ परेषां चरणौ च हस्तौ ।
येनास्त्रशस्त्रैः करणेऽपि नेत्रे ॥
मानादपांगं च तिरस्करोति ।
पादेन खंजो भवतीह जीवः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने अस्त्र शस्त्रोंसे दूसरों के हाथ पैरों को काट डालता है, अथवा कान नाक काट लेता है वा नेत्र फोड़ देता है अथवा जो अपने अभिमान से लूले लङ्गड़े आदि अपाङ्ग पुरुषों का तिरस्कार करता है वह पुरुष मरकर लूला लङ्गड़ा वा अपाङ्ग होता है।

भावार्थ—जिस पुरुष के हाथ पैर कट जाते हैं वह पुरुष बहुत दुःखी हो जाता है। वह पुरुष आने जाने से भी लाचार हो जाता है खाने पीनेसे भी लाचार हो जाता है, द्रव्य कमाने से भी लाचार होजाता है तथा प्रायः सब कामोंसे लाचार हो जाता है। ऐसे पुरुष को प्रत्येक कार्य के करने में महादुःख होता है। जो पुरुष ऐसे दुःखी पुरुषों का तिरस्कार करता है अथवा अन्य पुरुषों के हाथ पैर काटकर इस प्रकार दुःखी बना देता है, वह पुरुष भी मरकर परलोकमें लूला लङ्गड़ा होकर दुःखी होता है। यही समझकर कभी किसी जीव को किसी प्रकार का दुःख नहीं देना चाहिए, सबको अपने सुखी बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

आगे नरक जाने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।
स्याच्छ्वभ्रगामी मनुजश्च मृत्वा ॥

अथ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पाप कर्म के उदयसे मरकर नरक गामी बन जाता है अर्थात् किस किस पाप के करने से नरक जाता है ।

उत्तर—**अत्यंतकोपादसुहिंमनाद्वा ।**
देवस्य धर्मस्य गुरोर्विरोधात् ॥
बन्धोः समं वैरविरोधयोगात् ।
स्यात्पापमूर्तिर्नरकस्य गामी ॥ ४१ ॥

अथ—जो पुरुष अत्यन्त क्रोध करता है वा प्राणों का घात करता रहता है अथवा जो पुरुष देव धर्म गुरु का विरोध करता रहता है वा अपने भाइयों के साथ वैर विरोध करता रहता है वह पापमूर्ति मनुष्य अवश्य ही नरकगामी होता है ।

भावार्थ—क्रोध करना महा पाप का कारण है, क्रोध करने से इस लोक में भी अनेक अनर्थ होते हैं । क्रोध के करने से ही यह जीव अनेक प्राणियों के प्राणों का घात कर देता है, क्रोध के करने से ही माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदिका घात कर देता है और क्रोधके करने से ही अपने भाई का वा किसी अन्य धर्मात्मा भाई का घात कर देता है । तथा ऐसा घातक मनुष्य मरकर अवश्य ही नरक जाता है । इसी प्रकार देव, धर्म वा गुरुका विरोध करना सबसे बड़ा पाप है । देव, धर्म, गुरु तीनों ही समस्त जीवोंका कल्याण करने वाले हैं, समस्त जीवों को मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले हैं तथा स्वयं परम वीतराग हैं और वीतरागता का ही उपदेश देते हैं । ऐसे परम कल्याणमय देव धर्म

गुरु के साथ विरोध करना, वा उनका अपमान करना वा उनकी आज्ञाको न मानना महापाप माना जाता है। ऐसे पापोंका फल नरक ही है। इसी प्रकार अपने भाइयों के साथ विरोध करना वा धर्मात्मा भाइयोंके साथ विरोध करना भी पापका कारण है। धर्म को न मानने वाला पुरुष ही धर्मात्मा का विरोध कर सकता है और इसी लिए ऐसा पुरुष अवश्य नरक जाता है यही समझकर देव धर्म गुरु का वा धर्मात्मा पुरुषों का विरोध कभी नहीं करना चाहिये न कभी किसी प्राणीका घात करना चाहिये और न कभी क्रोध करना चाहिये।

आगे—छोटा वामन [बौना] शरीर प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा- ।**
ज्जीवो भवेद् वामनदेहधारी ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे वामनरूप छोटे शरीरको धारण करता है।

उत्तर—**गर्वेण यो वामनदेहनिन्दां ।**
तस्यापमानं ननु तद्विघातम् ॥
दुःखं प्रदातुं च करोति कांक्षां ।
स स्यान्नरो वामनदेहधारी ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने शरीर के अभिमान से छोटे वामन शरीरको धारण करने वालोंकी निन्दा करता है, उनका अपमान करता है, वा उनका घात करता है अथवा उनको दुःख देनेकी

इच्छा करता है ऐसा पुरुष मरकर ऐसे ही छोटे वामन शरीर को धारण करता है।

भावार्थ—शरीर के छह संस्थान हैं। उनमें वामन भी एक संस्थान है। वह निकृष्ट संस्थान है। क्यों कि वामन शरीर को धारण करने वाला मनुष्य कभी भी विशेष वा उत्तम कार्य नहीं कर सकता। इसी लिए वह निन्द्य शरीर कहलाता है। जो मनुष्य इस पर्यायमें वामन वा छोटे शरीर धारण करने वालों की निन्दा करते हैं वा उनकी हँसी उडाते हैं, वा उनका अपमान करते हैं अथवा उनको मारते हैं, कूटते हैं, वा घात करते हैं वा अन्य अनेक प्रकार के दुःख देने की इच्छा करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर वामन ही होते हैं तथा वे भी अनेक अन्य जीवों के द्वारा मारे जाते हैं, कूटे जाते हैं, अपमानित किये जाते हैं निन्दनीय कहे जाते हैं और अनेक प्रकार से दुःखी किये जाते हैं। यही समझकर कभी किसी की निन्दा वा अपमान नहीं करना चाहिए और न कभी किसी को दुःख देना चाहिए।

आगे—पशुयोनि प्राप्त करने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।**
योन्यां पशोर्जायत एव जीवः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदयसे पशुयोनिमें उत्पन्न होता है।

उत्तर—**स्वाचारहीनस्य करोति शंसां ।**
वर्ज्याशनं वा गुरुदेवनिन्दाम् ॥

भाराधिकं जीव जलान्नरोधं ।
योन्यां पशोर्जायत एव कौ सः ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो पुरुष श्रेष्ठ आचरणों से रहित मनुष्यों की प्रशंसा करता है, अभक्ष्य भक्षण करता है, वा देव धर्म गुरु की निंदा करता है, या पशुओं पर अधिक बोझा लादता है अथवा जीवोंके अन्न पानको रोक देता है ऐसा मनुष्य मरकर इसी पृथ्वीपर पशुयोनि में उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—जो पुरुष श्रेष्ठ आचरणों के स्वरूप को नहीं जानता वा श्रेष्ठ आचरणों को धारण नहीं करता ऐसा मिथ्या दृष्टि पुरुष ही आचरणहीन मनुष्यों की प्रशंसा किया करता है। तथा ऐसा ही मिथ्यादृष्टि मनुष्य कभी न भक्षण करने योग्य कंद मूल आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है। वा पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादता है वा उनकी शक्ति से अधिक उनको चलाता है, अथवा समयानुसार उनको भोजन पान नहीं देता, वा बहुत कम देता है, अथवा गर्मी सर्दी से उनकी रक्षा नहीं करता, और जो देव धर्म गुरु की वा शास्त्रों की निंदा किया करता है। अथवा अपने तीव्र मिथ्यात्व कर्म के उदयसे उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर पशुओं की योनि में ही उत्पन्न होता है ।

आगे कुभोगभूमि में उत्पन्न होने के कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।**
कुभोगभूम्यां च भवेत्कुजन्म ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये यह जीव किस पापकर्म के उदय से कुभोगभूमि में कुजन्म धारण करता है।

उत्तर—**मिथ्यात्वभाजे मुनयेऽन्नदानं ।**
येन प्रदत्तं च जलौषधादि ॥
सद्दृष्टिसाधोश्च कृतोऽपमानं ।
उत्पद्यते ना स कुभोगभूम्याम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो पुरुष मिथ्यादृष्टी साधुओं को अन्न जल वा औषधि आदि का दान देता है और जो सम्यग्दृष्टी श्रेष्ठ साधुओं का अपमान करता है ऐसा पुरुष मरकर कुभोगभूमि में उत्पन्न होता है।

भावार्थ—बीज बोने के लिये जैसी भूमि होती है वैसा ही उसका फल प्राप्त होता है। अच्छी भूमि में बीज बोने से अच्छा फल मिलता है, बुरी भूमि में बीज बोने से बुरा फल मिलता है और ऊसर में बोने से कुछ फल नहीं मिलता। इसी प्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टी वीतराग निर्ग्रंथ साधुओं को आहार दान देते हैं वा शास्त्र औषधि आदि का दान देते हैं उनको उस दान के फल से उत्तमभोगभूमि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावकों को दान देने से मध्यमभोगभूमि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावकों को दान देने से जघन्य भोगभूमि प्राप्त होती है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि वीतराग निर्ग्रंथ साधु उत्तमपात्र कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक मध्यमपात्र कहलाते हैं और सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावक जघन्यपात्र कहलाते हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि व्रती साधु कुपात्र कहलाते हैं। उनको दान देने से कुभोगभूमि

प्राप्त होती है। मिथ्यादृष्टि अव्रती साधु अपात्र कहलाते हैं उनको दान देने से कोई किसी प्रकार का फल नहीं मिलता है। इसी प्रकार जो पुरुष निर्ग्रंथ वीतराग गुरुओं की निंदा करता है वह भी मिथ्यादृष्टि ही कहलाता है। और ऐसा मिथ्यादृष्टि ही वीतराग निर्ग्रंथ साधुओं की निंदा कर सकता है, तथा इसीलिये वह कुभोग-भूमि में उत्पन्न होता है। कुभोगभूमि में मनुष्य ही होते हैं परंतु वे तिर्यंचों के समान ही होते हैं। यही समझकर सम्यग्दृष्टि वीत-राग निर्ग्रंथ गुरुओं को ही दान देना चाहिये अथवा सम्यग्दृष्टि श्रावकों को देना चाहिए। इनके सिवाय अन्य किसी को देना हो तो करुणापूर्वक भूखे प्यासे को भोजन दे देना चाहिए जो वह अन्यत्र ले जाकर खाले। ऐसे दान को करुणादान कहते हैं।

आगे कुग्रामवासी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात्।**
कुग्रामवासी भवतीह जीवः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से कुग्राम में रहनेवाला होता है।

उत्तर—**आरोप्य दोषं हि हठादसत्यं।**
निष्कासिता येन जना वनादौ ॥
कुक्षेत्रजन्तोश्च कृता प्रशंसा।
कुग्रामवासी स भवेत्कुभावात् ॥ ४० ॥

अर्थ—जो पुरुष अन्य लोगों को झूठा दोष लगाकर हठ पूर्वक गांव से निकालकर वनमें भेज देता है अथवा जो नीच क्षेत्रमें

रहनेवाले जीवों की प्रशंसा करता रहता है ऐसा पुरुष मरकर अपने दुष्ट परिणामोंसे नीच वा छोटे गांवमें रहनेवाला कुग्रामवासी होता है।

भावार्थ—किसी पुरुष का घर छुड़ाना वा उसे निकाल देना एक प्रकार का पाप है और वह हिंसानाम के पापमें अंतर्भूत होता है। क्योंकि जिस पुरुषको निकाल दिया जाता है वह पुरुष घरबारसे रहित होकर महादुःखी होता है। इसीलिए इस पापका करनेवाला पुरुष कुग्राम में उत्पन्न होकर महादुःख प्राप्त किया करता है। इसी प्रकार जो पुरुष अपने पापरूप वा नीच परिणामों के कारण म्लेच्छ आदि कुक्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों की प्रशंसा किया करता है वह भी मरकर अपने नीच परिणामोंके फलसे कुग्रामवासी ही होता है। यही समझकर कभी किसी को अपने घरसे नहीं निकालना चाहिए। पशु पक्षियों के घोंसले वा घर भी नहीं बिगाड़ने चाहिए और न उनका स्थान छुड़ाना चाहिए। क्योंकि घर वा घोंसला छुड़ाने से पशु पक्षियों को भी महादुःख होता है। कभी कभी बिना घर घोंसलेके उन पशु पक्षियों को मर जाना भी पड़ता है। इसलिए किसी को भी किसी प्रकारका दुःख नहीं देना चाहिए और न किसी का घर घोंसला बिगाड़ना चाहिए।

आगे व्यवहारशून्य होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात्।**
स्यादेव जीवो व्यवहारशून्यः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से व्यवहारशून्य होता है।

उत्तर—दृष्ट्वाप्यकुप्यद् व्यवहारदक्षान् ।
वृथाभिमानं च विधाय तुष्येत् ॥
वा धीमतोऽज्ञानत एव निन्दां ।
स्यात्तीव्रपापाद् व्यवहारशून्यः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी व्यवहार चतुर मनुष्योंको देख कर व्यर्थ ही क्रोधित होता है अथवा जो व्यर्थका अभिमान कर संतुष्ट होता है । अथवा जो पुरुष अपनी अज्ञानता के कारण बुद्धिमान् पुरुषों की निन्दा किया करता है । ऐसा पुरुष मरकर व्यवहार शून्य होता है ।

भावार्थ—शास्त्रज्ञान में चतुर होना और बात है तथा व्यवहार में चतुर होना और बात है । ऐसे अनेक विद्वान् हैं जो शास्त्रज्ञानमें बहुत ही चतुर हैं अथवा अनेक शास्त्रोंके जानकार हैं तथापि वे व्यवहार में चतुर नहीं होते हैं तथा ऐसे भी मनुष्य हैं जिन्हें शास्त्रज्ञान कुछ भी नहीं है अथवा जो पढ़े लिखे भी नहीं हैं परन्तु व्यवहार ज्ञान में अत्यन्त चतुर होते हैं । इसका भी कारण यह है कि शास्त्रज्ञान के लिये सरल बुद्धि की आवश्यकता है । जिनकी बुद्धि सरल होती है उनको शास्त्रोंका ज्ञान शीघ्र होता है परन्तु वे ही सरल बुद्धिवाले शास्त्रज्ञानी पुरुष व्यवहार ज्ञानमें चतुर नहीं होते । क्यों कि व्यवहार ज्ञानके लिये कुछ तीक्ष्ण वा कुटिल बुद्धि की भी आवश्यकता होती है । यद्यपि कुटिल बुद्धिका होना निन्दनीय है तथापि कभी कभी वह व्यवहार में लाई जाती है । व्यवहार ज्ञान के लिये तीक्ष्ण और तत्काल स्फुरायमान होनेवाली

बुद्धिकी आवश्यकता है।

जो मनुष्य व्यर्थ का अभिमान करते हैं वा चतुर पुरुषों की निन्दा करते हैं अथवा चतुर पुरुषों को देखकर क्रोधित होते हैं ऐसे पुरुष मरकर व्यवहार शून्य होते हैं।

आगे अधिक अन्न खानेवाला किस कारण से होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।**
बह्वन्नभुक्तेऽपि भवेन्न तृप्तः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे अधिक अन्न खा लेने पर भी तृप्त नहीं होता।

उत्तर—**दत्तान्नदानं पशुपक्षिकेभ्यो।**
बलात्स्वयं सेवितवान् नरो यः॥
यो भोजनादौ च रतो न दाने।
मूर्खः स मृत्वा विपुलान्नभोजी॥ ४७॥

अर्थ—जो पुरुष पशु पक्षियों के लिये दिये हुये अन्नको बलपूर्वक स्वयं सेवन कर लेता है अथवा जो पुरुष सदाकाल खाने पीनेमें ही लगा रहता है, दान देनेके लिये जिसका मन कभी नहीं चलता ऐसा मूर्ख पुरुष मरकर अधिक अन्न खाने वाला होता है।

भावार्थ—जो पुरुष अपने दिये हुए दानको अथवा अपने पूर्वजों के दिये हुए दानको अथवा अन्य किसी दूसरे के द्वारा दिये हुये दानको स्वयं ले लेता है वह पुरुष पापियों में भी महापापी

होता है। एक तो वे पुरुष हैं जो किसी जिनालय के लिये दान देते हैं, वा जिनप्रतिमा बनवानेके लिये दान देते हैं वा किसी स्वाध्यायशालाके लिये दान देते हैं, अथवा भूखे मरते पशु पक्षियों को वा भिक्षुकों को दान देते हैं अथवा अन्य किसी ऐसे ही काम के लिये दान देते हैं। ऐसे पुरुष वास्तव में पुण्यवान् हैं और वे परलोक के लिये भी अपना पुण्यकर्म साथ लेजाते हैं। परन्तु एक वे मनुष्य हैं जो जिनालय वा जिनप्रतिमाके लिये वा अन्य किसी धर्म कार्यके लिये दिये हुए धनको भी बलपूर्वक स्वयं खा जाते हैं। अथवा लूले, लङ्गडे, पशुओंको वा कबूतर आदि पक्षियों को डाले हुए दाने भी बटोर कर स्वयं खाजाते हैं ऐसे मनुष्यों को महापापी समझना चाहिये। धर्मशास्त्र की ऐसी आज्ञा है कि कमाये हुए धनमें से कुछ न कुछ दानमें अवश्य देना चाहिये। और वह जिनपूजन, पात्रदान ऐसे उत्तम कार्यों में ही देना चाहिये परन्तु अच्छी कमाई करते हुए भी जिनालय में दिये हुए दान को हड़प लेते हैं अथवा अन्य किसी कार्य में दिये हुए दान को स्वयं काममें ले लेते हैं, यहां तक कि लूले, लङ्गडे, पशु, पक्षियों के लिए दिये हुए दानको भी स्वयं खाजाते हैं उनका पापका क्या ठिकाना है। परलोक में जाकर ऐसे पुरुषों को भस्मकव्याधि होती है जिससे कि चाहे जितना अन्न खा लेने पर भी वे कभी तृप्त नहीं होते। यही समझ कर बुद्धिमान मनुष्यों को दिये हुए दान में से कभी एक पैसा नहीं लेना चाहिए। तथा अपने कमाये हुए धनमें से सदाकाल कुछ न कुछ दान अवश्य देते रहना चाहिए।

आगे निर्धनताका अन्य कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव! कस्माद्।**
धनेन हीनो भवतीह जीवः॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस पापकर्मके उदय से धन हीन दरिद्री होता है।

उत्तर—**धनं परेषामपहृत्य तुष्येद्।**
दृष्ट्वा हरान्तं गृहरत्नराज्यम्॥
कृत्वापमानं धनहीनजन्तोः।
स द्रव्यहीनो भवति ह्यभाग्यः॥ ४८॥

अर्थ—जो पुरुष दूसरे के धनको हरण कर संतुष्ट होता है अथवा जो दूसरे के घर, रत्न, राज्य आदि को हरण करने वाले को देख कर प्रसन्न होता है अथवा जो धनहीन मनुष्यों का अपमान कर संतुष्ट होता है वह मनुष्य मरकर भाग्यहीन दरिद्री होता है।

भावार्थ—दूसरे का धन हरण करना वा हरण करनेवाले को देखकर प्रसन्न होना चोरी है। जो पुरुष इस प्रकार की चोरी करता है, दूसरे का धन छीन कर उसको निर्धन बनाता है अथवा किसी दुखी निर्धन का अपमान करता है वह मनुष्य मरकर अवश्य ही धनहीन दरिद्री होता है इसका भी कारण यह है कि यह धन मनुष्यों का बाह्य प्राण है। धन का स्वामी मनुष्य जब धन की रखवाली करने लगता है तब वह यही कहता है कि "प्राण रहने तक तो मुझ से कोई धन ले नहीं सकता। मुझे

मारकर भले ही कोई ले जाय। इससे सिद्ध होता है कि धन प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है। ऐसे धन को जो कोई हरण कर लेता है वह उसके प्राणोंको ही हरण कर लेता है। इसीलिए दूसरेके धनको हरण कर लेना महापाप कहा जाता है। इसमें हिंसा और चोरी दोनों का ही पाप लगता है इसीलिए ऐसे काम को करनेवाला मनुष्य परलोक में जाकर अवश्य ही निर्धन और महादुःखी होता है। यही समझ कर कभी किसी का धन हरण नहीं करना चाहिये।

आगे कुत्सितकाव्य करनेवाले का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मात्।**
दक्षः कुकाव्ये भवतीह जीवः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप-कर्म के उदय से यह जीव कुत्सित काव्य करनेमें निपुण होता है।

उत्तर—**कुकाव्यशास्त्रेऽप्यकरोद् रुचिं यः।**
श्रुत्वा तथा दन्तकथामसाराम् ॥
कुशास्त्रदानं प्रविधाय तुष्येत् ।
कुकाव्यशास्त्रे निपुणो भवेत्सः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो पुरुष कुत्सित काव्यशास्त्रोंमें रुचि रखता है, वा साररहित दंतकथाओं को सुनकर संतुष्ट होता है अथवा कुत्सित काव्यशास्त्रोंका दान देकर संतुष्ट होता है ऐसा मनुष्य मरकर कुत्सित काव्य शास्त्रों की रचना करने में वा उनके जाननेमें निपुण होता है।

भावार्थ—कामशास्त्र की कथा कहनेवाले वा कामदेव की

वृद्धि करनेवाले या काम को उत्तेजित करनेवाले काव्योंको कुत्सित काव्य कहते हैं। ऐसे कुत्सित काव्यों की रचना करने से महापाप होता है क्योंकि ऐसा काव्य जबतक विद्यमान रहता है तब तक अनेक मनुष्य उसे पढ़कर वा सुनकर पाप उत्पन्न करते रहते हैं। इसीलिए ऐसे काव्यों को कुत्सित काव्य कहते हैं और उनका पढ़ना पढ़ाना महापाप माना जाता है इसी प्रकार अनेक दन्त कथाएं ऐसी हैं जिनमें कुछ सार नहीं है अथवा जिनके सुनने से कामोर्जित होता है अथवा क्रोध बढ़ता है अथवा मायाचारी की शिक्षा मिलती है वा अन्य अनेक नीच कामों की शिक्षा मिलती है, ऐसी दन्तकथाओं का सुनना भी पाप ही कहलाता है। क्योंकि ऐसी कथाओं के सुनने से भी परिणामों में दुष्टता आती जाती है इस प्रकार ऐसे कुत्सित शास्त्रों का दान देना भी पाप का कारण है। क्योंकि ऐसा कुत्सित शास्त्र जिसको दिया जाता है वही पुरुष उसे पढ़कर वा सुनकर पाप उत्पन्न करता रहता है। तथा वह पापों की परम्परा सैंकड़ों वर्ष तक चलती रहती है। इसलिये ऐसे पाप शास्त्रोंमें जो रुचि करता है वा उनको सुनता है वा दान देता है वह मनुष्य परलोक में जाकर महापाप उत्पन्न करने के लिए कुत्सित काव्य करने में ही चतुर होता है। जिससे कि महापाप उत्पन्न करता हुआ नरकादिक के दुःख प्राप्त करता है। अतएव भव्यजीवों को ऐसे कुत्सित काव्य कभी नहीं करने चाहिये। और न कभी सुनने चाहिये।

आगे यह जीव अधिक भार ढोनेवाला क्यों होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव! कस्मात् ।**
भवेद्धि जीवो बहुभारवाही ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्मके उदयसे यह जीव अधिक बोझा ढोनेवाला उत्पन्न होता है।

उत्तर—**आरोपणाद्वाधिकभारवस्तु ।**
छलेन हीनाधिकवाहनाद्वा ॥
दीनान् पशून् वाऽधिकताड़नाद्वा ॥
तुष्येत् स ना स्याद्बहुभारवाही ॥ ५० ॥

अर्थ—जो पुरुष दीन पशुओं पर अधिक बोझा लादकर प्रसन्न होता है वा छलसे दीन पशु वा मनुष्यों को अधिक काम में लेकर वा उनसे शक्ति से अधिक काम कराकर प्रसन्न होता है अथवा दीन पशुओं को अधिक ताड़ना कर प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर अधिक बोझा ढोनेवाला होता है।

भावार्थ—दीन हीन मनुष्यों पर वा पशुओं पर अधिक बोझा लादना, वा उनसे उनकी शक्ति से अधिक काम लेना वा उनको अनुचित रीति से ताड़न करना महापाप है। पशु वचनहीन होते हैं। वे कुछ कह नहीं सकते परंतु शक्ति से अधिक बोझा लादनेपर वे दुःखी होते हैं। जिस प्रकार अधिक बोझा लादने से पशु दुःखी होते हैं उसी प्रकार दीन अनाथ दरिद्री मनुष्यों पर यदि अधिक बोझा लाद दिया जाय तो वे भी बहुत दुःखी होते हैं। यह बात दूसरी है कि ऐसे मनुष्य अपने पेट के लिए अधिक दुःख सहन कर लेते हैं। परंतु है यह अन्याय। इसी प्रकार उनसे बलपूर्वक

अधिक काम लेना वा उनको अधिक दंडित करना भी अन्याय है। जो पशु लूले लङ्गडे हैं वा रोगी हैं अथवा जिनके शरीर पर घाव हो रहे हैं ऐसे पशुओं से कभी काम नहीं लेना चाहिए। ऐसे पशुओं से काम लेना महा अन्याय है। तथा इसीलिए ऐसे अन्याय करने वाले मनुष्य मरकर ऐसे ही दीन दरिद्री मनुष्य वा पशु होते हैं जिनपर उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादा जाता है। अतएव किसी जीवको किसी प्रकार से भी नहीं सताना चाहिए।

आगे दीर्घ आयु पाकर भी महा दुःखी किस कारण से होता है यही दिखाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।**
दीर्घायुरेवं भवतीह दुःखी ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव लम्बी आयु पाकर भी महादुःखी क्यों होता है ?

उत्तर—**द्रुच्छेदनं वा खननं च मह्याः।**
निष्कारणं येन कृतं कुपापम् ॥
हठात् त्रसस्थावरजीवबाधा।
दीर्घायुरेवापि भवेद्धि दुःखी ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पुरुष विना कारण के वृक्षों को काटता है, छोटे छोटे पौधों को काटता है, वा विना कारण के पृथ्वीको खोदता है, अथवा जो विना ही कारणके हठपूर्वक त्रस स्थावर जीवोंको दुःख पहुंचाता है ऐसा मनुष्य मरकर दीर्घ आयु पाकर के भी महा-दुःखी होता है।

भावार्थ—यद्यपि इस संसार में दीर्घ आयुका प्राप्त होना अच्छा समझा जाता है परन्तु शारीरिक वा मानसिक दुःख होनेपर वा दरिद्रता होनेपर अधिक आयु वाले को महादुःख होता है। आयु के अधिक होने पर इन्द्रियां सब शिथिल हो जाती हैं, शरीर निर्बल हो जाता है, उठने बैठने की शक्ति नहीं रहती, कुछ काम होता नहीं तथा सब प्रकार से बेकार हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि दरिद्रता हो, वा पुत्रपौत्र दुर्वचन कहनेवाले हों, वा शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो गये हों, खाने पीने को मिलता न हो वा और भी किसी प्रकार का दुःख हो तो फिर उस बड़ी आयुका काटना अत्यन्त कठिन हो जाता है। उस बड़ी आयु से वह स्वयं दुःखी होता है तथा अन्य देखने वाले भी दुःखी होते हैं। ऐसे मनुष्य को देखकर देखनेवाले भी यही कहते हैं कि " अब तो यह शीघ्र ही मर जाय तो अच्छा " परन्तु महा:दुखी होता हुआ भी वह मनुष्य विना आयु पूरी किये मर नहीं सकता। इससे सिद्ध होता है कि दुःखी होने पर दीर्घायु का पाना और अधिक दुःखी बनानेके लिए होता है। तथा जो मनुष्य व्यर्थके पाप किया करते हैं विना कारण व्यर्थ ही वृक्षोंके पौधों को काट डालते हैं, पृथ्वी खोद डालते हैं, अग्नि लगा देते हैं, व्यर्थ पानी फैलाते रहते हैं वा त्रस स्थावर जीवों को अनेक प्रकार से दुःखी किया करते हैं ऐसे जीव मरकर दीर्घायु पाकर भी दुःखी होते हैं।

आगे नपुंसक होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद्।**

नपुंसकः स्याद्भुवि सर्वनिंद्यः ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से समस्त लोगों के द्वारा निन्दनीय ऐसा नपुंसक होता है।

उत्तर—**क्रीड़ा ह्यनंगे च रुचिः कुहास्ये।**
क्लीवस्य निंदा भुवि तीव्रकामी॥
कुशीलहेतोश्च कृतः प्रयत्नः।
इत्यादिपापात्स नपुंसकः स्यात्॥ ५२॥

अर्थ—जो पुरुष अनङ्ग क्रीड़ा किया करता है, निन्दनीय हँसी करने में प्रेम रखता है, जो नपुंसक हिंजड़ों की निन्दा किया करता है, जो संसार में अत्यन्त तीव्रकामी होता है और कुशील सेवन करने के लिए अनेक प्रयत्न किया करता है वह पुरुष मरकर इन पापों के कारण नपुंसक होता है।

भावार्थ—जो न तो स्त्री होते हैं और न पुरुष होते हैं उनको नपुंसक कहते हैं। जिनकी इच्छा पुरुषों के साथ रमण करने की होती है उनके स्त्रीलिङ्ग माना जाता है तथा जिनकी इच्छा स्त्री के साथ रमण करने की होती है उनके पुल्लिंग माना जाता है, परन्तु नपुंसकलिङ्ग वालों की इच्छा दोनों के साथ रमण करने की होती है। यद्यपि नपुंसक नपुंसक ही होते हैं तथापि उनके हृदयमें कामसेवन की लालसा अत्यन्त तीव्र होती है। नपुंसक जीवों की कामवासना पजावे की अग्नि के समान होती है जो बहुत कालतक जलती रहती है। इसलिये यह नपुंसक पर्याय अत्यन्त निन्द्य मानी जाती है। जो

पुरुष काम सेवन के अंगों को छोडकर अन्यत्र क्रीडा किया करते हैं अथवा कामोत्तेजित करनेवाली निन्दनीय हँसी करनेमें प्रेम रखते हैं अथवा जिनके काम सेवन की लालसा अत्यन्त तीव्र होती है अथवा जो लोग कुशील सेवन करने के लिए परस्त्रियों को वश करने के लिए वा परपुरुषों को वश करनेके लिये अनेक प्रकार के निन्दनीय प्रयत्न किया करते हैं अथवा और भी ऐसे ही ऐसे काम किया करते हैं ऐसे पुरुष वा स्त्री मरकर अवश्य ही नपुंसक होते हैं। इसलिये भव्यजीवों को इस निन्दनीय पर्याय से बचने के लिये सदा काल अपने हृदय को शान्त रखना चाहिये। काम सेवन की तीव्र लालसा कभी नहीं रखनी चाहिये।

आगे—विकलत्रय होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव! कस्माद्।**
मृत्वेति जीवो विकलत्रयः स्यात्॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से वा कैसे पाप करने से मरकर विकलत्रय जीव होता है।

उत्तर—**दुःखं प्रदत्तं विकलत्रयाणां।**
सुनिर्दयाताडनमारणादिः॥
बंदीकृता वा त्रसजीववृन्दा।
स तीव्रपापाद्विकलत्रये स्यात्॥ ५३॥

अर्थ—जो पुरुष इस भवमें अत्यन्त निर्दयता के साथ विकलत्रय जीवोंको दुःख देता है, अथवा उनको ताड़न करता है वा

मारता है अथवा जो अनेक त्रसजीवों को घेर बटोर कर बन्द कर देता है ऐसा मनुष्य अपने तीव्र पाप के उदय से मरकर विकलत्रय जीवों में पैदा होता है।

भावार्थ—दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीवों को विकलत्रय कहते हैं। लट, पई, गिंडोये, जोंक आदि दो इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। चींटी, खटमल आदि जीव तेइन्द्रिय कहलाते हैं। मक्खी, भौंरा, बर्र, ततैया, पतङ्गा आदि चौइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। दोइन्द्रिय के स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं। तेइन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण ते तीन इन्द्रियां होती हैं। तथा चौइन्द्रिय के स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं। ये तीनों ही प्रकार के जीव त्रस होते हैं और पूर्ण इन्द्रियां न होने के कारण विकलत्रय कहलाते हैं। विकलत्रय महा दुःखी होते और उन्हें प्रत्येक समय में मरने का डर लगा रहता है। जो पुरुष इस भव में विकलत्रय जीवों को दुःख देते हैं, उन्हें मारते हैं बांध कर उडाते हैं उनके ऊपर धूल फेंक कर दुःखी करते हैं वा त्रस जीवों को बांध कर रखते हैं, घेर कर रखते हैं, भूखे प्यासे रखते हैं, सर्दी, गर्मी में बन्धे रखते हैं वा अन्य किसी प्रकार से दुःख देते हैं वे जीव इस तीव्र पाप करने के कारण विकलत्रय पर्याय में उत्पन्न होते हैं।

आगे—दास होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मात् ।**
दासः परेषां भवतीह जीव ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे इस संसारमें दूसरोंका दास हो जाता है।

उत्तर—**यः कारयित्वा स्वगृहादिकार्यं।**

ददाति दीनाय धनादिवित्तम्॥

स्वप्नेपि धैर्यं ह्यदधान्न लोभाद्।

दासःपरेषां स भवेदभाग्यः॥ ५४॥

अर्थ—जो पुरुष किसी दीन मनुष्य को अपने घरका काम कराकर धन देता है और लोभके कारण स्वप्नमें भी कभी उनको धैर्य नहीं देता ऐसा पुरुष मरकर परलोकमें दूसरेका दास होता है।

भावार्थ—दीन हीन पुरुषों को वा भूखे प्यासे पुरुषों को करुणापूर्वक धनादिकका दान देना चाहिये। धन पाकर दान देना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य होजाता है। परंतु जो पुरुष लोभ के कारण दान के नामसे थोड़ासा धन तो देते हैं परंतु उससे घर का सब काम कराकर वा उतने की मजूरी कराकर थोड़ासा धन देते हैं ऐसे पुरुष मरकर दूसरेके दास होते हैं जो मजूरी कर अपना पेट भरते हैं और फिर भी मजूरी मिलती है वा नहीं भी मिलती है। इस प्रकार वे जीव महादुखी होते हैं। यही समझकर दान देकर कभी उससे बदला नहीं चुकाना चाहिये। दीनोंको करुणापूर्वक ही दान देना चाहिये।

आगे स्त्रीपर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव! कस्मात्।**

प्राप्नोति जीवो ललनाशरीरम्॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से स्त्रीपर्यायको प्राप्त होता है।

उत्तर—**स्त्रीवेषिजीवं प्रविलोक्य तुष्येत्।**
करोति नित्यं ललनाभिलाषाम्॥
हास्यं गतिं दारसमं च वार्ता।
मृत्वा नरोऽयं ललना भवेद्धि॥ ५५॥

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीका वेष धारण करनेवाले मनुष्यों को देखकर संतुष्ट होता है, तथा जो सदाकाल स्त्रियों की अभिलाषा करता रहता है और जो स्त्रियों के ही समान हंसता है, स्त्रियों के ही समान चलता है और स्त्रियोंके ही समान बातचीत करता है ऐसा मनुष्य मरकर अवश्य ही स्त्रीपर्याय को प्राप्त होता है।

भावार्थ—इस संसारमें ऐसे अनेक मनुष्य हैं जो सदा काल स्त्रियों के साथ ही बैठते उठते हैं उन्हीं के साथ बातचीत करते हैं, मनुष्यपर्याय से स्त्रीपर्याय को उत्तम समझते हैं और इसी लिये जो हँसना, गाना, चलना, बातचीत करना, मटकना, वस्त्र पहनना, आभूषण पहनना आदि समस्त कार्य स्त्रियों के समान करते हैं। ऐसे पुरुष मरकर अपने उन्हीं पापरूप परिणामों के कारण स्त्रीपर्याय को प्राप्त होते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो स्त्रीपर्याय अत्यंत निंद्य पर्याय है। प्रसूति के समय उसे अनेक प्रकार के महा दुःख उठाने पड़ते हैं तथा वह सदाकाल पराधीन रहती है। इस लिये ऐसी स्त्रीपर्यायमें जन्म लेना पापका ही कारण माना जाता है।

आगे स्थावर शरीर धारण करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्मा- ।**
ज्जीवो भवेत्स्थावरदेहधारी ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे स्थावर शरीर धारण करता है।

उत्तर—**धर्मस्य देवस्य गुरोः प्रणिन्दा ।**
कुदेवधर्मादिगुरोः प्रशंसा ॥
स्वाचारनिंदाऽपि कृतैव येन ।
स स्यान्नरः स्थावरदेहधारी ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो पुरुष निर्दोष देव की निंदा करता है, अहिंसामय धर्म की निंदा करता है, और वीतराग गुरुओं की निंदा करता है। तथा जो कुदेव कुधर्म और कुगुरु की निंदा प्रशंसा करता है और श्रेष्ठ आचरणों की निंदा भी करता है। ऐसा पुरुष मरकर अवश्य स्थावर शरीर धारण करता है।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पति कायिकके भेदसे स्थावर जीवोंके पांच भेद हैं। निगोदिया जीव भी स्थावर कहे जाते हैं। ये निगोदिया जीव एक श्वासमें अठारह बार जन्म लेते हैं और अठारह बार ही मरण करते हैं। इस संसार में जन्म मरणके समान अन्य कोई दुःख नहीं है तथा वह महा दुःख निगोदिया जीवों को श्वासमें अठारह बार प्राप्त होता है। ऐसा यह अत्यन्त पापमय तथा निंदनीय स्थावर शरीर देव शास्त्र गुरुकी निंदा करने से, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु की प्रशंसा करने से

और आचरणों की निंदा करने से प्राप्त होता है। इसलिये भव्य जीवों को देव शास्त्र गुरु की निंदा नहीं करनी चाहिये।

आगे अंगहीन होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयात्से वद देव ! कस्मा- ।**
दंगैरुपांगैर्भवतीह हीनः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म के उदय से अंग उपांगसे हीन होता है।

उत्तर—**अङ्गं ह्युपांगं च परस्य येन ।**
विच्छेदितं वा भवनं प्रणष्टम् ॥
दृष्ट्वांगहीनं स्वयमेव तुष्येद् ।
भवेत्स दुष्टश्च किलांगहीनः ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूसरे के अंग उपांगों को काट डालता है वा दूसरों का घर नष्ट कर देता है अथवा जो अंग उपांगहीन मनुष्योंको देखकर संतुष्ट होता है ऐसा दुष्ट मनुष्य मरकर अंगहीन होता है।

भावार्थ—दूसरों के अंग उपांग काटना महापाप है। जिसके अंग उपांग काट दिये जाते हैं वह मनुष्य बेकार होजाता है। और फिर वह जन्मभर दुखी रहता है। इसी प्रकार जिसका घर नष्ट होजाता है वह भी जन्मभर दुखी रहता है। ऐसा महादुःख देना महापापका कारण है। यही कारण है कि ऐसे काम करनेवाला वह महापापी पुरुष मरकर अगले जन्म में अंग उपांग हीन हो जाता है। और वह भी जन्म भर तक महादुःखी बना रहता है।

इसी प्रकार अंग उपांगहीन मनुष्योंको देखकर जो संतुष्ट होता है जिसके हृदयमें उनको देखकर करुणा नहीं आती ऐसे मनुष्य भी मरकर अंग उपांग हीन होते हैं। यही समझकर किसी दुखी जीवको देखकर कभी संतुष्ट नहीं होना चाहिये और न किसीके अंग उपांग काटने चाहिये

आगे नीचकुल में उत्पन्न होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव! कस्मात्।**

स्याज्जन्म जन्तोश्च कुले हि नीचे॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकार्यके करने से वा किस पापकर्मके उदय से नीचकुलमें उत्पन्न होता है।

उत्तर—**निजप्रशंसा स्वमुखात्परेषां।**

निंदा कृता श्रेष्ठकुलस्य येन॥

गर्वादबोधाद् गुणिनां कुलस्य।

तज्जन्म वै नीचकुले भवेद्धि॥ ५८॥

अर्थ—जो पुरुष अपने मुखसे अपनी ही प्रशंसा करते हैं तथा दूसरोंकी निंदा करते हैं अथवा जो अपने अभिमान से वा गुणियों के उच्चकुलके अज्ञानसे श्रेष्ठकुलकी निंदा किया करते हैं वे पुरुष मरकर नीचकुलमें जन्म लेते हैं।

भावार्थ—श्रेष्ठकुलकी वा श्रेष्ठकुलवालोंकी निंदा करना श्रेष्ठ कुलसे वा श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेवाले पुण्यवान् मनुष्योंसे अरुचि उत्पन्न करता है जो मनुष्य पुण्यवान् मनुष्योंसे अरुचि करता है

वह पुण्यकार्यों से भी अरुचि करता है तथा पुण्यकार्यों से अरुचि करने के कारण वह सदाकाल नीचकार्य ही करता रहता है। नीचकार्योंके करनेसे वह पापकर्मोंका बन्ध करता है और उन पापकर्मोंके उदय होने पर वह नीचकुलमें उत्पन्न होता है। नीच कुलमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य अपने पापकर्म के उदय से सर्वत्र तिरस्कृत होते हैं। जिनपूजा पात्रदान आदि उत्तम कार्योंसे वंचित रहते हैं और प्रायः जन्मभर दुःखी रहते हैं।

आगे उच्चकुलमें उत्पन्न होकर भी धनहीन किस कारण से होते हैं यह बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयान्मे वद देव ! कस्माद् ।**
हीनो धनैरुच्चकुलेऽपि जीवः ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्मके उदयसे उच्चकुलमें उत्पन्न होकर भी धनहीन होता है।

उत्तर—**पुरोच्चगोत्रं च शुभेन बद्धं ।**
पश्चात्सगर्वात्परनिंदनादिः ॥
कृतो गुरोर्येन सदापमानः ।
स स्याद्धनैरुच्चकुलेऽपि हीनः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिन जीवोंने पहले शुभ परिणामोंके निमित्तसे ऊंच गोत्रका बन्ध कर लिया है और फिर अपने अभिमान से दूसरों की निंदा की है अथवा अपने अभिमानसे जिन्होंने गुरु जनों का सदा अपमान किया है ऐसे पुरुष उच्चकुलमें तो उत्पन्न होते हैं परंतु धनहीन होते हैं।

भावार्थ—उच्चकुल में उत्पन्न होकर धनहीन होने से बहुत दुःख होता है। इसका भी कारण यह है कि उच्चकुल की प्राप्ति पुण्यकर्मके उदय से होती है। तथा धनादिक की प्राप्ति भी पुण्य-कर्मके उदय से होती है। उच्चकुल में उत्पन्न होनेवालों को अपने समान उच्चकुलवालोंके साथ व्यवहार करना पड़ता है। परंतु वह व्यवहार विना धनके नहीं होता। तथा बराबर का व्यवहार न करने से उन सब के साथ लज्जित होना पड़ता है। तथा वह मानसिक पीड़ा सदा दुःख देती रहती है। इसलिये भव्यजीवों को पुण्यकर्म ही करते रहना चाहिये। पुण्यकर्मों के साथ अभिमान कभी नहीं करना चाहिये।

आगे जीविकाके लिये परिभ्रमण करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**देशे विदेशे च कुतश्च पापा-**
दाजीविकार्थं मनुजा भ्रमन्ति।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव अपने किस पापकर्म के उदयसे आजीविका के लिये देश विदेश में परिभ्रमण करते हैं।

उत्तर—**योऽनेकवारं परिभ्रामयित्वा।**
गृहादिकार्यं खलु कारयित्वा॥
आशां प्रदर्श्यापि धनं न यच्छेत्।
भ्रमेत्सदा कौ स च वृत्तिहेतोः॥ ६०॥

अर्थ—जो पुरुष अपने सेवकोंको अनेक बार इधर उधर दौड़ाकर घरके काम कराता है। और फिर आशा दिखलाकर भी

धन नहीं देता वह पुरुष अपनी जीविका के लिये इस पृथ्वी पर सदा काल परिभ्रमण किया करता है।

भावार्थ—सेवकोंसे घरका सब काम लेकर भी तथा उसके बदले उसको धन देनेकी आशा दिलाकर भी धन न देना एक प्रकार का महापाप है। क्योंकि जब घरमें धन नहीं होता है तभी मनुष्य दूसरों के घर जाकर सेवा करता है। तथा दिनभर सेवा करनेपर भी वा घरके सब काम करने पर भी यदि उसको धन नहीं मिलता है तो उस दिन वह भी भूखा रहता है तथा उसके बाल बच्चे भी भूखे रहते हैं। तथा जिस मनुष्य को पहले दिन भोजन नहीं मिला है वह मनुष्य दूसरे दिन भी काम नहीं कर सकता और इस प्रकार वह तथा उसके बालबच्चे बहुत दुखी हो जाते हैं, उनके परिणामों में विकलता हो जाती है और वे क्षणक्षणमें काम कराकर धन न देनेवालेके लिए अशुभ आशीर्वाद देते रहते हैं, इसलिये जो जीव काम कराकर भी धन नहीं देते वे जीव मरकर अपनी आजीविकाके लिये देश विदेश में घूमते फिरते हैं और फिर भी उनको जीविका प्राप्त नहीं होती है। इसलिये काम कराकर किसी का भी धन नहीं रोकना चाहिये।

आगे छलपूर्वक जीविका प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं॥

प्रश्न—**कर्मोदयान्मे वद देव ! कस्मा- ।**
च्छलैः समं संचलतीह वृत्तिः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकर्मके उदय से इन जीवों की जीविका छलपूर्वक चलती है।

उत्तर—छलेन दत्तं मुनयेऽन्नदानं ।
तथा कृता देवगुरोश्च सेवा ॥
येन प्रशंसा खलवंचकानां ।
स्यात्तीव्रपापाच्छलयुक्तवृत्तिः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो पुरुष वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंके लिये छलपूर्वक आहारदान देते हैं वा छलपूर्वक देव शास्त्र गुरुकी सेवा करते हैं अथवा जो दुष्ट ठगोंकी प्रशंसा किया करते हैं ऐसे पुरुष मरकर उस तीव्र पापकर्म के उदयसे छलपूर्वक होनेवाली जीविका प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—वीतराग निर्ग्रंथ मुनियों को आहारदान देना पुण्यका काम है । परंतु वही आहारदान यदि छलपूर्वक दिया जाता है तो वही कार्य पापकार्य हो जाता है । सम्यग्दृष्टि सदाचारी पुरुष तो कभी छलपूर्वक आहार दे ही नहीं सकता । परंतु जो पुरुष अंतरंग में मिथ्यात्व को धारण करता है वह छलपूर्वक आहार दे सकता है अथवा जो पुरुष बाह्यप्रवृत्ति में समाज का अपराधी होता है जातिच्युत वा पतित होता है वह भी छलपूर्वक मुनियों को आहार दान दे सकता है । तथा इसी प्रकार देव धर्म गुरु की सेवा, देव पूजन, प्रतिष्ठा पात्रदान आदि भी छलपूर्वक हो सकते हैं । इसी प्रकार जो मनुष्य दुष्ट मायाचारी जीवोंकी प्रशंसा करता है अपने मिथ्यात्व के उदय से उनको श्रेष्ठ मानता है वह भी उसीके समान पाप करता है । अथवा कितने ही मनुष्य धन वा पुत्र प्राप्त होने की तीव्र लालसा से देव वा गुरु की सेवा किया

करते हैं वा गुरुओं को आहार दानादिक दिया करते हैं। इस प्रकार छलपूर्वक धर्मकार्य करनेवालों को परलोकमें जाकर छलपूर्वक होनेवाली जीविका प्राप्त होती है।

आगे यह जीव पशु होकर घर घर विकता रहता है ऐसा पशु किस कारण से होता है।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च पशुर्भवेन्ना।**
विक्रीयते येन गृहे गृहे कौ॥

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि यह जीव किस पापकर्म से पशु होता है तथा घर घर बिकता रहता है।

उत्तर—**छलात्परेषां वनितां च पुत्रीं।**
क्रीणाति गां वा शयनान्नवस्त्रं॥
छलिप्रशंसां नितरां करोति।
भूत्वा पशुर्विक्रियते गृहादौ॥ ६२॥

अर्थ—जो मनुष्य छलपूर्वक किसी दूसरे की स्त्री को वा पुत्री को मूल्य देकर लेता है वा छल पूर्वक किसी गाय को वा अन्य पशुको लेता है वा सोने बैठने के सामान वा अन्न वस्त्र छलपूर्वक लेता है अथवा जो मायाचारी लोगों की प्रशंसा किया करता है वह मनुष्य मरकर ऐसा ही पशु होता है जो घर घर बिकता रहता है।

भावार्थ—मायाचारी करना तिर्यंचयोनि का कारण है। जिस प्रकार तिर्यंचयोनिमें उत्पन्न होनेवाले पशु अनेक प्रकार के हैं उसी प्रकार मायाचारी भी अनेक प्रकार की है। उस अनेक

प्रकार की मायाचारी में से जो पुरुष अनेक प्रकार के छल कपट बनाकर किसी की पुत्री को मोल ले लेता है वा किसी की स्त्री को मोल ले लेता है वह मनुष्य उस छल कपट रूप पापके कारण ऐसा पशु होता है जो घर घर विकता फिरता है। इसी प्रकार जो मनुष्य इस प्रकार की मायाचारी करनेवालों की प्रशंसा करता है अथवा छल कपट बनाकर अन्न वस्त्र आदि अन्य पदार्थों को मोल लेता है वह मनुष्य भी मरकर ऐसा ही घर घर विकनेवाला पशु होता है। इस प्रकार के मायाचारी मनुष्य उन स्त्रियों को पालन पोषण करनेके वा अन्य अनेक प्रकार के लोभ दिखलाते हैं और फिर उस लोभ को दिखलाकर उनको मोल ले लेते हैं वा उनको वश में कर लेते हैं। ऐसे नीच मनुष्य भेड़ बकरी आदि नीच पशु होते हैं। जहां अनन्त काल तक दुःख भोगा करते हैं।

आगे एक साथ अनेक जीवोंकी मृत्युका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वदैककाले।**
भूयिष्ठजन्तोर्भवतीह मृत्युः ॥

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि एकही समय में अनेक जीवों की मृत्यु किस पापकार्य के करने से होती है।

उत्तर—**अनेकजीवो हि मिथो मिलित्वा।**
साधोः प्रणिंदामकरोत्कुकृत्यम् ॥
तुष्येत् पशोर्वीक्ष्य कलिं सबोधात्।
कुर्यात्कुबंधं समुदायमृत्योः ॥ ६३ ॥

अर्थ—जब कभी अनेक जीव मिलकर किसी साधुकी वीत-राग निर्ग्रंथ गुरु की निंदा करते हैं अथवा अनेक जीव मिलकर

अन्य कोई कुकर्म करते हैं अथवा अनेक जीव मिलकर अपनी अज्ञानताके कारण पशुओं की लड़ाई देखकर प्रसन्न होते हैं ऐसे जीव मिलकर एक साथ मरने का पाप बंध किया करते हैं ।

भावार्थ—वर्षा के दिनों में अनेक गिंजाई उत्पन्न होती हैं तथा सैंकड़ों हजारों गिंजाइयों का छत्ता थोड़ेसे ही स्थान में बना रहता है । यदि उन गिंजाइयों के ऊपर किसी हाथी वा ऊंट का पैर पड़ जाय वा उनके ऊपर कोई पला भरकर मिट्टी डाल दे, वा अग्नि डाल दे तो वे सब गिंजाई एक साथ मर जाती हैं अथवा मशीनों के युद्धमें अनेक जीव एक साथ मर जाते हैं वा विष मिली वायु से अनेक जीव एक साथ मर जाते हैं ऐसे अनेक जीव जो एक साथ मरते हैं उनकाही साथ होता है । तथा ऐसा एक साथ उदय में आनेवाला पाप कर्मोंका बन्ध भी वे सब एक ही साथ करते हैं ।

जो हजारों जीव किसी सभामें बैठकर एक साथ किसी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी निंदा करते हैं अथवा वीतराग देवकी वा उनके कहे हुए शास्त्रों की निंदा करते हैं अथवा अनेक मनुष्य एक साथ मिलकर पशु पक्षियों का युद्ध देखते हैं और प्रसन्न होते हैं ऐसे सब जीव वा उनमें से अनेक जीव ऐसे ही आयु कर्म का बंध करते हैं जो एक ही साथ अंत को प्राप्त होते हैं । यही समझकर किसी भी वीतराग देव शास्त्र गुरु की निंदा नहीं करनी चाहिये वा पशु पक्षियों का युद्ध नहीं देखना चाहिये ।

आगे किसी पुरुषको देखकर स्त्रीके हृदयमें वा किसी स्त्रीको देखकर किसी पुरुष के हृदय में कामवासना उत्पन्न हो जाती है उसका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च नरस्य नार्याः ।**
दृष्ट्वा मिथः स्मात्खलकामजन्म ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कर्म से स्त्री पुरुषों में परस्पर एक दूसरे को देखकर कामवासना उत्पन्न हो जाती है ।

उत्तर—**नार्याः पुरा जन्मनि वा नरस्य ।**
मिथो यदि स्याद् व्यभिचारकर्म ॥
रागादिहास्यं हृदि तत्प्रमोहात् ।
तयोऽमुत्रापि भवेत्प्रमोहः ॥ ६४ ॥

अर्थ—पहले जन्ममें जिन स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध रहता है, वा पहले जन्ममें जो स्त्री पुरुष परस्पर व्यभिचार करते रहते हैं अथवा एक दूसरे पर मोहित होकर रागभाव वा हँसी किया करते हैं ऐसे स्त्री पुरुषों के हृदय में परलोक में भी परस्पर मोह उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—एक कुटुम्बमें जितने जीव उत्पन्न होते हैं उनका पूर्वभवका संबंध प्रायः कुछ न कुछ रहता ही है । लोग पूर्वभव में परस्पर शत्रु होते हैं ऐसे जीव यदि एक कुटुम्बमें आकर उत्पन्न होते हैं तो एक कुटुंब में होनेपर भी परस्पर उनका विरोध रहता ही है । इसी प्रकार जिन स्त्री पुरुषों में पहले भवमें परस्पर संबंध रहा है अथवा जिन स्त्री पुरुषों ने पहले भवमें परस्पर व्यभिचार सेवन किया है । अथवा परस्पर एक दूसरे पर मोहित होकर राग-भाव किये हैं वा हँसी आदि विनोद किया है अथवा जिन दोनोंने

परस्पर होनेवाला रागभाव हृदय में बना रहा है ऐसे जीव जब दूसरे भवमें भी स्त्री पुरुष होते हैं तब उनमें एक दूसरेको देखकर रागभाव वा मोह उत्पन्न होता ही है। तथा ऐसा मोह वा राग-भाव अनेक जन्मोंतक बना रहता है। यही समझकर भव्यजीवों को कभी किसी से अधिक प्रेम वा रागभाव नहीं करना चाहिये। भोगोपभोगों का सेवन भी न्यायपूर्वक ही करना चाहिये। अन्याय पूर्वक भोगोपभोगों का सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

आगे—क्रोध उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पापोदयोज्जायत एव कस्मात्।**
दृष्ट्वान्यजीवान् हृदि कोपजन्म॥

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि किस पापकर्म के उदयसे इस जीव के हृदय में अन्य जीवों को देखकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

उत्तर—**यः कोऽपि ना पूर्वभवस्य शत्रुः।**
स्वदेहहन्ता यदि वा विरोधी॥
वियोगकर्ता स्वकुटुम्बकानां।
तं वीक्ष्य कोपो भवतीह जन्तोः॥ ६५॥

अर्थ—जो कोई पुरुष पहले भवमें अपना शत्रु था अथवा अपने शरीरको नाश करनेवाला था वा विरोधी था अथवा अपने किसी कुटुंबके मनुष्यका वियोग करनेवाला था ऐसे मनुष्यको देख-कर इन जीवोंके हृदयमें अवश्य ही क्रोध उत्पन्न होता है।

भावार्थ—क्रोधादिक कषायों की उत्पत्ति पहले जन्म के संस्कारोंसे ही होती है। पहले भव में जिन जीवों ने अपनी कुछ हानि की है वा कुटुम्ब की कुछ हानि की है वा अपने साथ कुछ विरोध किया है ऐसे मनुष्यों को देखकर वा ऐसे जीवोंको देख कर अपने हृदयमें अवश्य ही क्रोध उत्पन्न होता है। यदि पहले भवमें हमारे जीवने किसीके साथ वैर विरोध किया है तो हमको देखकर दूसरे के हृदय में क्रोध उत्पन्न होता है। यही समझकर भव्यजीवोंको कभी किसी के साथ वैर विरोध नहीं करना चाहिये अथवा किसीकी हानि नहीं करनी चाहिये। जिस किसी के साथ वैर विरोध हो उससे उसी समय क्षमा मांग लेनी चाहिये और अपने आत्मा में क्रोधादिकका संस्कार कभी नहीं रखना चाहिये।

आगे एक साथ अनेक जीवोंके रोगी होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च भवन्ति चैक- ।**
काले सरोगा बहुजीववर्गाः ॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह अनेक जीवोंका समुदाय एक ही समय में किस पापकर्म के उदय से एक साथ रोगी होता है।

उत्तर—**साधोर्वपुः स्वेदरजःप्रलिप्तं ।**
दृष्ट्वा जुगुप्सामकरोत्प्रणिन्दां ॥
स्वानन्दतुष्टस्य तथापमानं ।
स्यादेककालेपि च रोगयुक्तः ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो अनेक जीव मिलकर वीतराग निर्ग्रंथ मुनियों के

पसीना और धूलिसे मिले हुए मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करते हैं अथवा उनकी निंदा करते हैं अथवा अपने आत्मा में लीन रहनेवाले उन्हीं मुनियोंका अपमान करते हैं ऐसे जीव उस पापकर्म के उदयसे एकही समय में रोगी होते हैं।

भावार्थ—वीतराग निर्ग्रंथ मुनियों की निंदा करना वा उनको देखकर ग्लानि करना वा उनका अपमान करना महापाप है। मुनिलोग पूर्ण अहिंसाव्रतको पालन करते हैं। स्नान करने में अनेक जीवों की हिंसा होती है। यही कारण कि मुनिलोग आजन्म स्नानके त्यागी होते हैं। तथा गर्मी के दिनों में पसीना आता ही है और धूलि उड़कर उसपर जम ही जाती है तथापि वे मुनिराज कभी स्नान नहीं करते, उस शरीरकी मलिनता को सहन करते हैं। वे मुनिराज शरीरको भी पर और हेय समझते हैं, इस लिये वे शरीरसे भी कभी ममत्व वा मोह नहीं करते। वे मुनि-राज तो अपने शुद्ध आत्माको ही अपना समझते हैं और इसी लिये वे सदाकाल उसीमें लीन रहते हैं। ऐसे मुनियों को देखकर जो अनेक जीव उनकी निंदा करते हैं, उनका अपमान करते हैं उनके लिये बुरे वचन कहते हैं, वा उनके आहार विहारमें प्रति-वन्ध करते हैं वा उनसे अरुचि रखते हैं वा उनकी आज्ञाका उल्लंघन करते कराते हैं अथवा और भी किसी प्रकार का उनका विरोध करते हैं ऐसे समस्त जीव एक साथ रोगी होते हैं। उन सब जीवोंने एक साथ पापका बन्ध किया इसलिये उन सब का उदय भी एक साथ हो आता है। यही समझकर वीतराग मुनियोंकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये।

आगे—रोगों की शान्ति के लिये प्रयत्न करने पर भी रोग शान्त नहीं होता इसका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**रोगोपशान्त्यै च कृते प्रयत्ने।**
तस्योपशान्तिर्भवतीह किं न॥

अर्थ—रोगों की शांति के लिये प्रयत्न करने पर भी उस रोग की शान्ति नहीं होती इसका कारण क्या है?

उत्तर—**सरोगिसेवा न कृता प्रदत्तं।**
स्वल्पौषधं रैविपुलं गृहीत्वा।
रोगस्य भीतिं च प्रदर्श्य लोभाद्।
यत्ने कृते नश्यति तुर्न रोगः॥ ९७॥

अर्थ—जो पुरुष वैद्य होकर भी रोगियों की सेवा नहीं करता, अथवा अपने तीव्र लोभ से रोगका भय दिखलाकर बहुतसा धन लेकर भी बहुत थोड़ी औषधि देता है वह पुरुष रोगी होनेपर उसकी शांतिके लिये अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी नीरोग नहीं होता।

भावार्थ—जो मनुष्य जिस विद्या का जानकार है उसको उस विद्याके द्वारा अपना और दूसरों का दोनों का उपकार करना चाहिये। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि केवल धन बटोर लेना अपना उपकार नहीं है। धन तो अपने कर्म के क्षयोपशमके अनुसार आता ही है। किंवा अपने आत्मा का कल्याण कर लेना, पापकर्मों को नष्ट कर पुण्यकर्मोंका संचय कर लेना अपना उपकार कहलाता है। तथा उस विद्यासे जिस प्रकार

भी दूसरों का उपकार हो उसे उसी प्रकार दूसरों का उपकार करते रहना चाहिये। यही उस विद्या के प्राप्त होने का फल है। वैद्यों को रोगियों की सेवा भी करनी चाहिये और उचित मूल्य लेकर अच्छी औषधि देनी चाहिये। यदि कोई गुणी निर्धन आजाय तो उसकी विशेष सेवा करनी चाहिये तथा ऐसे निर्धनों के लिये विना मूल्य औषधि भी देनी चाहिये। जो वैद्य ऐसा नहीं करते हैं तथा अधिक मूल्य लेकर भी अच्छी औषधि नहीं देते वा रोगियों की सेवा नहीं करते अथवा अधिक धन लेने की इच्छा से रोग को वढा देते हैं वा रोगको असाध्य वा कष्टसाध्य बतला कर अधिक धन लेने की इच्छा करते हैं, अथवा जो निर्धनों से भी अधिक धन वसूल कर लेते हैं ऐसे वैद्य रोगी होने पर बहुत अधिक कष्ट पाते हैं तथा उस रोग को शांत करने के लिये उत्तम उपाय करने पर भी नीरोग नहीं होते हैं।

आगे—गर्भपात होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद स्त्रियश्च।**
कौ गर्भपातो भवति प्रभो मे ॥

अर्थ—हे प्रभो! अत्र कृपा कर यह बतलाइये कि किस पापके करने से स्त्रियों का गर्भपात हो जाता है।

उत्तर—**पुत्रो यया मारित एव गर्भे।**
तन्मारणार्थं च विषं प्रदत्तम् ॥
या गर्भपातं प्रविधाय तुष्येत्।
तस्या भवेदेव हि गर्भपातः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिस किसी स्त्रीने अपने वा दूसरे के पुत्रको गर्भमें ही मार दिया है, अथवा किसी भी पुत्रको मारनेके लिये विष दिया है, अथवा जो गर्भपात करके संतुष्ट हुई है उस स्त्रीका गर्भपात अवश्य ही होता है।

भावार्थ—गर्भमें रहने वाला बालक अत्यन्त दुःखी, अत्यन्त लाचार और सर्वथा पराधीन रहता है उस समय वह थोड़े से ही प्रयोग से मर जाता है। ऐसे लाचार पराधीन पुत्रको मार देना महापाप कहलाता है। जो स्त्री ऐसा महापाप करती है अथवा जो स्त्री अपने वा दूसरेके पुत्रको विष देकर मार देती है अथवा जो गर्भपात करके प्रसन्न होती है अथवा सौत के पुत्रों से ईर्ष्या द्वेष रखकर उनको दुःख देती है ऐसी स्त्रीका गर्भपात अवश्य हो जाता है। गर्भपात होना पापका कारण है और इसीलिए वह पुत्र मारने आदि महापापों के करने से ही होता है।

आगे-कुव्यसनों में धन खर्च होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च धनादिशक्ते-।**
र्व्ययो भवेद्वा व्यसने जनानाम् ॥

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि किस पापके करने से लोगोंका धन वा अन्य शक्तियां कुव्यसनोंमें खर्च हो जाती हैं।

उत्तर—**धनं कुमार्गे हि हठान्नियोज्य।**
कृत्वा प्रशंसां व्यसनस्थितानाम्।
बलान्यभार्यामपहृत्य तुष्येत्।
तेषां धनादेर्व्यसने व्ययः स्यात् ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो पुरुष हठ पूर्वक अपने धनको किसी कुमार्गमें लगा देता है अथवा जो पुरुष कुव्यसनोंमें लीन होनेवाले मनुष्यों की प्रशंसा करता है अथवा जो किसी की स्त्रीको बलपूर्वक हरण कर संतुष्ट वा प्रसन्न होता है ऐसे पुरुषों का धन वा शक्ति कुव्यसनोंमें ही खर्च होती है।

भावार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन आदि पापोंके साधनों को कुमार्ग कहते हैं। तथा जूवा खेलना, मांस भक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या और शिकार खेलना ये सात कुव्यसन कहलाते हैं। ये कुमार्ग वा व्यसन सब पापोंके मार्ग हैं। इनके करनेसे महापाप उत्पन्न होता है। यद्यपि इन पापोंके करने वाले नरकादिक दुर्गतियोंमें ही जाते हैं। परंतु किसी कारण विशेषसे यदि ऐसे मनुष्य मरकर धनी मनुष्य होजाते हैं तो फिर उनका वह धन दुर्व्यसनोंमें ही खर्च होजाता है। जिन लोगोंको जन्म जन्मांतर से दुर्व्यसनों का अभ्यास पड़ा हुआ है ऐसे लोगोंका मन फिर दुर्व्यसनोंमें ही खर्च होता है।

आगे—सम्यग्ज्ञानमें भी रुचि न होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च न रोचतेऽयं।**
जीवायमिष्टः सुखदः सुबोधः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप कार्य के करने से इस जीव को मिष्ट और सुख देने वाला श्रेष्ठ ज्ञान भी अच्छा नहीं लगता।

उत्तर—**दत्वा कुशिक्षां व्यसने नियोज्य।**
कृत्वा जनान् देवगुरोश्च निंदाम्॥

श्रुत्वेति तुष्येद्वचनं खलादेः।
तस्मै सुबोधोपि न रोचतेऽत्र ॥

अर्थ—जो पुरुष कुशिक्षा देकर वा दिलाकर प्रसन्न होता है अथवा जो पुरुष अनेक मनुष्योंको कुव्यसनोंमें लगाकर प्रसन्न होता है वा देव शास्त्र गुरुकी निन्दा कर प्रसन्न होता है, अथवा दुष्ट वा नीच पुरुषों के वचनों को सुनकर प्रसन्न होता है ऐसे पुरुषोंको अन्तमें जाकर भी श्रेष्ठ ज्ञानमें रुचि कभी नहीं होती है।

भावार्थ—जिनके हृदय में तीव्रमिथ्यात्व बैठा हुआ है ऐसे ही पुरुष कुशिक्षासे प्रसन्न होते हैं। जिस शिक्षासे मिथ्यात्वरूप परिणाम हो जांय वा जिस शिक्षासे देव, शास्त्र गुरुकी भक्ति हट जाय, रत्नत्रयसे रुचि हट जाय, सम्यक्चारित्रसे द्वेष करने लग जाय, देवपूजा पात्रदान आदिको बुरा कहने लग जाय, वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी निन्दा करने लग जाय वा शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन करने लग जाय ऐसी शिक्षाको कुशिक्षा कहते हैं। जो लोग ऐसी शिक्षामें प्रसन्न होते हैं वे लोग मोक्षमार्ग से सदा विपरीत रहते हैं और इसीलिये ऐसे लोग देव शास्त्र गुरुकी निन्दा करते हैं या दुष्टोंके वचनोंको सुनकर प्रसन्न हुआ करते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टी पुरुषोंको भला श्रेष्ठज्ञान वा आत्मज्ञान अच्छा कैसे लग सकता है अर्थात् कभी नहीं लग सकता।

आगे—चांडालके हाथसे मृत्यु होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—कस्माद्धि पापाश्च वदेति जन्तो-
श्चाण्डालहस्तैर्भवतीह मृत्युः ।

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापकार्यके करनेसे यह जीव चांडालके हाथसे मारा जाता है।

उत्तर—**दुःखप्रदं हिंसकमेव कृत्यं ।**
कृतं हृतं प्राणधनं पशोर्यैः ॥
सुसेवितं वा मधुमद्यमांसं ।
चांडालतः स्यान्मरणं च तेषाम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो पुरुष अनेक जीवोंको महा दुःख देनेवाले हिंसा करनेवाले कार्य करते रहते हैं, अथवा पशुओं के प्राणरूपी धनको हरण किया करते हैं अथवा जो मद्य मांस मधु का सेवन किया करते हैं ऐसे पापी लोग चांडालके ही हाथसे मारे जाते हैं।

भावार्थ—चांडालके हाथसे मरना अत्यन्त निन्दनीय गिना जाता है। तथा महापाप कर्मके उदयसे ऐसा समय आता है। जो पुरुष अनेक जीवोंकी हिंसा करते रहते हैं, वा अनेक जीवोंकी हिंसासे होनेवाले व्यापारको करते हैं, जो पशुओंको मारते हैं, वा पशुओंको पक्षियोंको अनेक प्रकारके दुःख देते हैं, वा मद्यपान करते हैं, मांस भक्षण करते हैं, वा शहत खाते हैं, अथवा अनेक जीवों से भरे हुये गूलर, बड़, पीपर आदिके फलोंको भक्षण करते हैं ऐसे जीव चांडाल भील आदि के हाथसे मारे जाते हैं और फिर परलोक में जाकर नरकादिक के दुःख भोगते हैं।

आगे—मरकर कुत्ता होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो मे ।**
मृत्वा मनुष्यो भवतीह कौ श्वा ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस पापके करने से कुत्ता हो जाता है।

उत्तर—**ईर्ष्याभिमानं कुविरोधवैरं ।**
करोति यः कोपि मिथ्या विवादं ॥
रौद्रार्त्तचिन्तामटनं च कोप-
मित्यादिपापात्स भवेत्किल श्वा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो पुरुष सदाकाल ईर्ष्या वा अभिमान करता रहता है, प्रत्येकके साथ वैर विरोध करता रहता है वा परस्पर विवाद करता रहता है, आर्तध्यान रौद्रध्यानका चिंतवन करता रहता है, व्यर्थ ही इधर उधर फिरता रहता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे कार्य करता रहता है ऐसा पुरुष मरकर परलोक में कुत्ता ही होता है।

भावार्थ—कुत्ताकी पर्याय नीचपर्याय है वह विष्ठा मांस आदि निकृष्टसे निकृष्ट पदार्थों का भक्षण करता रहता है। घर घर फिरता रहता है, प्रत्येक कुत्ताके साथ लड़ता रहता है। तथा जहां जाता है वहां ही दुतकारा जाता है। ऐसी यह कुत्ताकी नीच पर्याय नीच कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है। एक दूसरेके साथ ईर्ष्या करना अभिमान करना, कुत्तोंके ही समान आपसमें वैर विरोध करना, वा परस्पर विवाद लड़ाई झगड़ा करना, विना कारणके क्रोधकरना, विना कारणके इधर उधर घूमते रहना, अथवा आर्तध्यान रौद्रध्यान में लीन रहना आदि कार्य भी नीच कार्य है तथा जो मनुष्य इन नीच कार्योंको करता रहता है वह मनुष्य मरकर कुत्ता ही होता है यही समझकर प्रत्येक मनुष्यको इन नीच कार्योंसे बचते रहना चाहिये।

आगे—मरकर विल्ली होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे**
नरो विडालो भवतीह मृत्वा ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस किस पापकार्यके करनेसे विल्ली होता है।

उत्तर—**दुग्धान्नपानाद्यभिलाषतोयो ।**
बन्धोर्धनादेरपहर्तु कामः ॥
दुर्ध्यानभाग् वा कुटिलः सदा स ।
मृत्वा विडालो भवतीह पापी ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो पुरुष अन्न, पान, दूध, दहीकी अभिलाषासे अपने भाई बन्धुओंके धनको हरण करना चाहता है जो सदा काल मायाचारी करता रहता है वा अशुभ दुर्ध्यान करता रहता है वह मनुष्य मरकर भाग्यहीन विलाव होता है।

भावार्थ—विलाव होना कुत्तेसे भी नीच और बुरा है। विलाव बहुत मायाचारी होता है तथा जितना खाता नहीं है उतना विगाड़ देता है तथा सदाकाल जीवोंकी घात में बैठा रहता है। इसीप्रकार जो मनुष्य सदाकाल मायाचारी करने में लगा है, सदाकाल दूसरोंका कार्य विगाडने का प्रयत्न किया करता है, वा दूसरोंके धनको हरण करनेकी इच्छा करता रहता है अथवा दूसरोंको हानि पहुंचाने का प्रयत्न किया करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे काम किया करता है वा मायाचारी का चिन्तवन किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर विलावकी पर्याय पाता है।

तथा उस पर्यायमें अनेक जीवोंकी हिंसा कर चिरकाल तक नरकादिक दुर्गतियोंके दुःख भोगता रहता है। यही समझकर मनुष्योंको सदाकाल ऐसे पापके कार्योंसे बचते रहना चाहिये।

आगे—सिंह पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
मृत्वा मनुष्यो भवतीह सिंहः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य कैसे पाप करनेसे मरकर सिंह होता है।

उत्तर—**दुर्ध्यानभाग् यः पशुहिंसकोऽस्ति।**
क्रूरस्वभावो जनताविरोधी॥
मांसप्रलोभी स्वपरात्मघाती।
मृत्वा स जीवो भवतीह सिंहः॥ ७४॥

अर्थ—जो मनुष्य सदाकाल दूसरों को मारनेका चिंतवन करता रहता है, वा अनेक पशुओंकी हिंसा करता रहता है, जिसका स्वभाव सदाकाल क्रूर रहता है, जो सदाकाल लोगोंका विरोध करता रहता है, जो मांस भक्षणका तीव्र लोलुपी होता है और अपने आत्माका घात करने वाला वा अन्यजीवोंका घात करता रहता है ऐसा मनुष्य मरकर अवश्य ही सिंह होता है।

भावार्थ—सिंहकी पर्याय महापाप करनेवाली पर्याय है। यही कारण है कि प्रायः सिंह मरकर नरक ही जाता है। ऐसी पापरूप सिंहकी पर्याय महापाप करनेसे ही प्राप्त होती है। सदा काल दुर्ध्यान करते रहना, दूसरोंको मरने मारने का चिन्तवन करते

रहना, शिकार खेलकर अनेक पशु पक्षियोंकी हिंसा करते रहना, वा अन्य किसी प्रकारसे अनेक पशुओंकी हिंसा करते रहना अपने स्वभावमें सदा क्रूरता रखना, साधारण लोगोंके साथ अधिक विरोध रखना, मांस भक्षण करने में अत्यन्त लोलुपता रखना, वा मद्यपान करनेमें अत्यन्त लोलुपता रखना, अपने आत्माको घात करनेका प्रयत्न करना अथवा दूसरोंके घात का प्रयत्न करते रहना वा अन्य ऐसे ही कार्य करना महापाप कहलाते हैं। इन्हीं पापोंके करनेसे यह मनुष्य मरकर सिंह होता है।

आगे श्रृगाल पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
ना जंबुकः स्याद् भुवने ह्यभाग्यः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापकर्मके करनेसे मरकर इसी लोकमें श्रृगाल होता है।

उत्तर—**मिथ्याप्रलापी जनवंचको यो।**
वेर्ष्याकरो वा कलहप्रवीणः।
दानादिधर्माद्धि सदैव दूरः।
स जंबुकः स्यान्मनुजोऽपि मृत्वा॥ ७५॥

अर्थ—जो मनुष्य सदाकाल मिथ्याभाषण करता रहता है, सदाकाल लोगोंको ठगता रहता है, सबके साथ ईर्ष्या द्वेष करता रहता है, वा सबके साथ कलह करता रहता है, और जो पात्रदान जिनपूजा आदि धर्मकार्योंसे सदा दूर रहता है ऐसा मनुष्य मरकर श्रृगाल होता है।

भावार्थ—शृगाल गीदड़को कहते हैं। गीदड़ बहुत ही चालाक होता है और प्रायः ठग ठगाकर ही अपना पेट भरा करता है। जो मनुष्य मिथ्या भाषण करनेमें, लड़ाई झगड़ा करने में चतुर होता है वा अनेक जीवों के साथ ईर्ष्या द्वेष करता रहता है, जो कभी दान नहीं देता, कभी जिनपूजन नहीं करता, कभी व्रत उपवास नहीं करता, तथा और भी शुभकार्योंसे दूर रहता है ऐसा मनुष्य मरकर गीदड़ ही होता है।

आगे-यह मनुष्य शील और व्रतोंको भङ्ग करनेवाला किस कारणसे होता है यही बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
व्रतं गृहीत्वा त्यजतीह मूढः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापकर्मके करनेसे व्रतोंको ग्रहण करके भी छोड़ देता है।

उत्तर—**यः कारयित्वा व्रतशील भंगं।**
तुष्येत्परेषां प्रविधाय निंदाम् ॥
साधोश्चरित्रे ह्ययुनक् प्रदोषं।
स स्यादमुत्र व्रतशीलभंगी ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंके व्रत वा शीलको भङ्ग कराकर प्रसन्न होता है, वा दूसरोंकी निंदा करता है, अथवा जो साधुओं के चारित्रमें दोष लगाता है, ऐसा मनुष्य मरकर परलोकमें अपने व्रत शीलोंको भङ्ग करनेवाला होता है।

भावार्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग ये पांच व्रत कहलाते हैं तथा गुणव्रत शिक्षाव्रतोंको शील कहते हैं। ये व्रत और शील दोनों ही आत्माका कल्याण करनेवाले हैं और परंपरासे मोक्षके कारण हैं। इसलिये जो मनुष्य इन व्रत और शीलोंको ग्रहण करके फिर छोड़ देता है अथवा इनका भङ्ग करता रहता है अथवा इनमें अधिक अतिचार लगाता रहता है उस मनुष्यको बहुत अधिक पापी समझना चाहिये। कल्याण करनेवाले रत्न को पाकर कोई भी नहीं छोड़ता। इसी प्रकार इन व्रतोंको भी लेकर कभी नहीं छोड़ना चाहिये। फिर भी जो मनुष्य इनको धारण कर छोड़ देता है उसके समान कोई भाग्यहीन पापी नहीं है। ऐसा भाग्यहीन पापी मनुष्य पहले जन्ममें दूसरों के व्रत शील भंग कराने से होता है, दूसरोंकी निंदा करने से होता है, अथवा मुनियोंके पवित्र चारित्रमें दोष लगानेसे होता है। अथवा किसी धर्मात्माको मिथ्या कलंक लगाने से होता है। यही समझकर भव्य जीवों को इन पापोंसे सदा बचते रहना चाहिए।

आगे यह मनुष्य किस पापके करने से मरकर गायकी पर्याय पाता है यही कहते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा मनुष्यो भवतीह धेनुः॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे यह मनुष्य मरकर गायका शरीर धारण करता है।

उत्तर—**आचारहीनश्च विचारशून्यो।**
ह्यभक्ष्यभक्षी भुवि केवलं यः॥

पापान्नलोभी खलु मन्दबुद्धिः
स स्यादमुत्रे मनुजोऽपि धेनुः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सदाचार से रहित है, विचारशून्य है, अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है, अन्नपान का अत्यन्त लोलुपी है, अथवा जो मन्दबुद्धि है ऐसा मनुष्य मरकर परलोक में गायकी पर्याय प्राप्त करता है।

भावार्थ—गाय बहुत भोली-भाली होती है। इसलिये जो पुरुष इस जन्म में आचार विचार करते, चाहे जहां, चाहे जिसके घर, चाहे जिसके हाथका खा लेते हैं जो खाने-पीने वा रहन-सहन का विचार नहीं करते, न भक्ष्य अभक्ष्य का विचार करते हैं, तथा जो अन्नपान के तीव्र लोलुपी बने रहते हैं और जिनकी बुद्धि अत्यन्त मन्द होती है ऐसे मनुष्य मरकर गायका जन्म लेते हैं।

आगे भैंस वा भैंसाकी पर्याय किस कारण से प्राप्त होती है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
मृत्वा मनुष्यो महिषो भवेत्कौ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस कारणसे भैंस वा भैंसा होता है।

उत्तर—धर्मोपदेशं सुखदं न श्रुत्वा।
गृह्णाति यः केवलमेव दोषम् ॥
वाऽशान्तिमेकां विषमां करोति।
स स्याद्धि मृत्वा महिषो ह्यभाग्यः ॥७८॥

अर्थ—जो पुरुष धर्म के उपदेशको कभी नहीं सुनता तथा केवल दोष को ही ग्रहण किया करता है तथा इस संसारमें जो केवल एक अशांति को ही उत्पन्न किया करता है ऐसा पुरुष मरकर भैंसा होता है।

भावार्थ—भैंसा बहुत हठीला, उपद्रव करनेवाला, और कभी न शांत रहनेवाला पशु है। इसलिये जो मनुष्य सदा अशांति फैलाया करता है कभी सामाजिक झगड़े वा कभी धार्मिक झगड़े उत्पन्न किया करता है, जो पुरुष कभी देश के झगड़े उत्पन्न करता है, कभी राज्य के झगड़े उत्पन्न करता है, कभी कुटुम्ब के झगड़े वा कभी भाइयों के झगड़े उत्पन्न किया करता है अथवा जो धर्मकार्योंकी ओर कभी ध्यान नहीं देता जो सदा दूसरोंके दोषों को ही ग्रहण किया करता है। ऐसा पुरुष मरकर भैंसा ही होता है जो इस पर्याय में आकर भी उपद्रव किया करता है।

आगे बकरा होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा मनुष्योऽपि भवेदजः कौ ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस कारण से बकरा होता है।

उत्तर—**वृथैव गच्छेद्धि वदेद् वसेद् वा।**
करोत्यकार्यं नयनं निमील्य ॥

निजप्रशंसां च परप्रणिन्दां ।
कृत्वेति तुष्येत्स भवेदजः कौ ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य विना प्रयोजनके व्यर्थ ही इधर उधर घूमता फिरता है, व्यर्थ ही वकवाद करता फिरता है, और व्यर्थ ही इधर उधर रहता फिरता है तथा जो अपने नेत्रों को बंदकर निंदनीय कार्य किया करता है, अथवा अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करके बहुत प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य इसी पृथ्वी पर मरकर बकरा होता है ।

भावार्थ—बकराकी पर्याय नीचपर्याय है उसको सदाकाल मरनेका भय लगा रहता है, तथा भूखप्यास के महादुःख भोगा करता है । ऐसी नीच पर्याय नीच और व्यर्थके काम करनेसे ही होती है । जो मनुष्य विना कामके बाजारमें वा गलियों में इधर उधर घूमा करता है, अथवा जो विना प्रयोजन अनेक प्रकार की बकवाद किया करता है, और जो चाहे जहां रह जाता है, जो किसी प्रकारका विचार किये विना बुरे से बुरा काम कर डालता है, जो अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होता है तथा दूसरे की निंदा सुनकर वा स्वयं दूसरोंकी निंदा करके प्रसन्न होता है अथवा जो पुरुष अन्य ऐसे ही ऐसे नीच कार्यों को करता रहता है ऐसा पुरुष मरकर बकरा होता है ।

आगे कौआकी पर्याय प्राप्त करने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
मृत्वा मनुष्यो भवतीह काकः ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस पापकार्यके करने से कौआ होता है।

उत्तर—**वस्तु ह्यभक्ष्यं मलिनं च निंद्यं।**
यश्चात्ति मांसं कटुकं ब्रवीति॥
दुःखप्रदं कर्कशमेव वाक्यं।
मृत्वा स मर्त्यो भवतीह काकः॥ ८०॥

अर्थ—जो मनुष्य अभक्ष्य मलिन और निंदनीय पदार्थोंका भक्षण करता है और जो दुःख देनेवाले कठोर और कड़वे वाक्य ही बोला करता है ऐसा मनुष्य मरकर कौआ होता है।

भावार्थ—कौआ अत्यन्त निंदनीय पक्षी है वह अभक्ष्य भक्षण करता रहता है। मलिन निंद्य पदार्थों का भक्षण करता है, मांस विष्टा आदिका भक्षण करता है और सदाकाल कठोर वचन बोला करता है। यहां तक कि इस संसार में उसका बोलना अपशकुन माना जाता है। ऐसे निंद्य पक्षी की पर्याय निंद्य काम करनेसे ही प्राप्त होती है। जो मनुष्य कौओं के समान अभक्ष्य भक्षण किया करते हैं, मलिन पदार्थों का भक्षण किया करते हैं; निंदनीय पदार्थों का भक्षण किया करते हैं, मद्यमांस मधुका सेवन किया करते हैं वा उदंबर फलों का भक्षण किया करते हैं अथवा जो कौओंके समान कठोर दुर्वचन कहा करते हैं, निंदनीय वचन कहा करते हैं वा दूसरों की निन्दा किया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर इन्हीं पापोंके कारण कौआकी पर्याय प्राप्त करते हैं।

आगे दुष्ट होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
मृत्वा मनुष्यो भवतीह दुष्टः॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मनुष्य किस किस पापके करनेसे मरकर दुष्ट होता है।

उत्तर—**दुष्टस्य येन व्यसनस्थजन्तोः।**
साधोः समं वा विषमं विवादः॥
मिथ्यात्वमूढस्य कृता प्रशंसा।
मृत्वा स मर्त्यो भवतीह दुष्टः॥ ८१॥

अर्थ—जो मनुष्य इस जन्ममें किसी दुष्टके साथ वादविवाद करता है वा किसी जुआरी वा चोर आदि व्यसनियोंके साथ वाद-विवाद करता रहता है। अथवा जो साधु सज्जनों के साथ विवाद करता रहता है। अथवा जो मनुष्य मिथ्यादृष्टी अत्यन्त मूर्ख मनुष्यों की प्रशंसा किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर दुष्ट मनुष्य होता है।

भावार्थ—दुष्ट मनुष्य सबके साथ दुष्टता किया करता है, तथा विशेषतः सज्जनों के साथ वा वीतराग निर्ग्रंथ साधुओंके साथ दुष्टता किया करता है। ऐसा दुष्टमनुष्य दुष्ट वा नीच काम करने से ही उत्पन्न होता है। जो मनुष्य दुष्टमनुष्योंमें रहता है, दुष्ट मनुष्यों की प्रशंसा किया करता है, दुष्टमनुष्यों से दुष्टता के काम सीखता है, वा मिथ्यादृष्टियों के साथ रहकर मिथ्यात्वकी वृद्धि करता है, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंकी निन्दा करता है, उनके साथ वादविवाद करना चाहता है, वा उनका तिरस्कार करता है, अथवा

जो अन्य ऐसे ही दुष्टताके कार्य किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर फिर भी महादुष्ट होता है और फिर अनेक दुष्टता के काम कर नरक आदि दुर्गतियों के महादुःख भोगता रहता है। यही समझ कर मनुष्यों को कभी दुष्टता नहीं करनी चाहिये। सज्जनों के ही साथ अपनी संगति रखनी चाहिए और सदाकाल धर्मकार्य में लगे रहना चाहिए।

आगे व्यभिचारी होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा नरः स्याद्व्यभिचारसेवी ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे मरकर व्यभिचारी मनुष्य होता है।

उत्तर—**वेश्यादिकानां च कुशीलजन्तोः।**
संगः कृतो दुष्टजनादिकानाम् ॥
क्रीड़ा समं येन नपुंसकेन।
मृत्वा नरः स्याद्व्यभिचारभाक् सः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इस जन्ममें वेश्याओंकी संगति करते हैं, अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों की संगति करते हैं वा दुष्ट लोगों की संगति करते हैं, अथवा जो नपुन्सकोंके साथ क्रीड़ा करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर व्यभिचारी होते हैं।

भावार्थ—व्यभिचार सेवन करना महापाप है, जो पुरुष व्यभिचार सेवन करता है वा व्यभिचार सेवन करने की इच्छा करता है वह मनुष्य भी रावण के समान अत्यन्त निन्दित होकर

नरकादिक दुर्गतियों के दुःख भोगता है। रावणने व्यभिचार सेवन करने की इच्छा मात्र ही की थी उसीके फलसे आज तक उसकी निन्दा हो रही है तथा वह रावणका जीव आज तक नरक में पड़ा दुःख भोग रहा है। इसी लिये व्यभिचार सेवन करने की कभी इच्छा भी नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य व्यभिचारी जीवों के साथ उठता बैठता है वेश्याओं की संगति में रहता है वा अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों की संगति में रहता है, वा अन्य चोर जुआरी आदि दुष्ट लोगों की संगति में रहता है वा अनंगक्रीड़ा करता है हिंजड़ोंकी संगति में रहता है वा उनके साथ क्रीड़ा करता है ऐसा मनुष्य इस लोक में भी व्यभिचारी बन जाता है और मरकर भी तीव्र व्यभिचारी होता है। जहांसे मरकर फिर वह नरकादिक दुर्गतियोंके दुःख भोगता है। इसलिये भव्य जीवोंको कभी भी दुष्ट संगतिमें नहीं बैठना चाहिये।

आगे पागल होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वेति मर्त्यो ग्रहिलो भवेत्को ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पाप-कार्यके करने से यह मनुष्य मरकर अगले जन्ममें पागल हो जाता है।

उत्तर—**मंत्रैश्च तंत्रैर्ग्रहिलोन्यजीवः।**
कृतश्च, कृत्वा ग्रहिलापमानम् ॥
वारोप्य तस्योपरि गोपदोषं।
तुष्येत्स मृत्वा ग्रहिलो नरः स्यात् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी मंत्रसे वा किसी तंत्रसे अन्य जीव को पागल बना देता है, अथवा जो पागल जीवोंका अपमान करता है अथवा जो उस पागल के ऊपर क्रोधित होनेका दोष आरोपण कर संतुष्ट होता है ऐसा मनुष्य मरकर अगले जन्म में पागल होता है।

भावार्थ—पागल मनुष्योंका जीवन भी व्यर्थ है। वह न तो कुछ धर्मकर्म कर सकता है और न घर गृहस्थी का काम कर सकता है। पागल मनुष्य केवल इधर उधर घूमता रहता है। उसे न खाने का ध्यान है न पीने का ध्यान है और न पहरनेका ध्यान है। यदि नंगा है तो नंगा ही घूमता रहता है। ऐसा पागल मनुष्य पापकर्म के उदयसे ही होता है। जो मनुष्य किसी मंत्रतंत्र से किसी मनुष्यको पागल बना देता है वा किसी पागल का अपमान करता है अथवा जो ऐसी ही ऐसी अन्य किसी प्रकार की मायाचारी करता है वह मनुष्य मरकर अगले जन्म में अवश्य ही पागल होता है।

आगे बन्दीगृह में पड़नेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
जीवाः स्वयं बन्दिगृहे पतन्ति॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ये जीव किस २ पापकार्यके करनेसे अपने आप बन्दीगृहमें जा पड़ते हैं।

उत्तर—**कारागृहे यैरपराधमुक्ता।**
जीवा बलाद् बन्दिगृहे बनादौ॥

उक्त्वानृतं वा विपदेऽहि बद्धाः ।
स्वयं व्यथादौ खलु ते पतन्ति ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिन मनुष्योंने अपराधरहित जीवोंको भी उनके आपत्तिमें डालनेके लिये झूठ बोलकर तथा बलपूर्वक बन्दीगृहमें डाल दिया है अथवा किसी वनमें लेजाकर बन्दीगृहमें डाल दिया है ऐसे जीव अगले जन्ममें जाकर अनेक विपत्तियोंको सहन करने के लिये अपने आप बंदीगृहमें जा पहुंचते हैं ।

भावार्थ—निरपराध जीवोंको दुःख देना वा उनको झूठ बोलकर वा झूठा दोष लगाकर बन्दीगृह में डाल देना, वा मिथ्या कलंक लगाकर देश निकाला दे देना, वा किसी निर्जन वनमें छोड़ देना महापाप कहलाता है । क्योंकि ऐसा करने से उस जीव को महादुःख होता है । इसलिये जो जीव ऐसा पाप करते हैं उन मनुष्यों को अगले जन्ममें किसी न किसी बहाने से बन्दी-गृहमें अवश्य जाना पड़ता है । वहांपर उन्हें अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं तथा वहां से निकलकर अन्य दुर्गतियों के दुःख भोगने पड़ते हैं । यही समझकर निरपराध जीवोंको कभी सताना नहीं चाहिये और न उनको कभी मारना चाहिये ।

आगे उत्पन्न होते ही मर जाने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।
स्वजन्मकाले म्रियते हि जीवः ॥**

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पापकार्यके करनेसे जन्म लेते ही समय मर जाता है ।

उत्तर—यैर्जन्मकाले हि परे च जीवाः।
सुमारिता वा खलु छेदिताश्च ॥
कृतो वियोगो जनबान्धवानां।
ते जन्मकाले मनुजा म्रियन्ते ॥ ८५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अन्य जीवोंको उत्पन्न होते ही मार देते हैं वा छेदन भेदन कर देते हैं अथवा किसी भी जीव को उसके माता पिता से वा भाई वन्धुओं से अलग कर देते हैं ऐसे जीव अगले जन्ममें जाकर जन्म होते ही मर जाते हैं।

भावार्थ—जन्म होते ही किसी जीव को मार देना बहुत बड़ा पाप है। क्योंकि उस समय उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय बलहीन और परवश होती है। उस समय वह कुछ नहीं कर सकता यहां तक कि रो भी नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें किसी भी दूसरेके बच्चेको मार देनेके समान अन्य कोई पाप नहीं है। मार देना वा छेदन भेदन कर देना एकही बात है। इसी प्रकार उत्पन्न होते ही किसी बालक को उसके माता पिता से अलग कर देना वा भाई बन्धुओंसे अलग कर देना भी बड़ा पाप है। क्योंकि जिन लोगोंसे वह बालक अलग कर दिया जाता है उनको महादुःख होता है। इसी प्रकार किसी बालक के मार देनेपर भी उसके माता-पिता वा कुटुम्बियों को बहुत दुःख होता है। इसी महापाप के कारण ऐसा मनुष्य मरकर उत्पन्न होते ही मार दिया जाता है अथवा स्वयं मर जाता है। यही समझ कर भव्य जीवों को कभी किसी बालक को न मारना चाहिए और न उसके माता पितासे उसको अलग करना चाहिए।

आगे निंदनीय होनेका कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।
भवन्ति जीवा भुवि निंदनीयाः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अव कृपाकर यह वतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करने से इस संसारमें निंदनीय वा निंदा करने योग्य उत्पन्न होते हैं।

उत्तर—धर्मस्य देवस्य गुरोश्च निंदा।
वाऽधार्मिकाणां च कृतः प्रसंगः ॥
यैर्भक्षितं चान्यधनं ह्यभक्ष्यं।
भवन्ति को ते जननिंदनीयाः ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य देव, धर्म वा गुरुकी निंदा करते हैं, अथवा जो अधार्मिक पुरुषों की संगति करते हैं, अथवा जो दूसरों का धन भक्षण किया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोकमें समस्त जीवोंके द्वारा निंदनीय होते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य इस संसारमें निंदनीय होता है उसे सब लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। कोई उसका विश्वास नहीं करता और सब लोग उसका अपमान करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसा निंदनीय मनुष्य होना महापापका फल है। तथा वह ऐसा महापाप देव, शास्त्र, गुरुकी निंदा करने से होता है। देव, शास्त्र, गुरु परम वीतरागी हैं, सर्वथा वीतरागता का उपदेश देते हैं, कभी किसी से कुछ चाहते नहीं, सदाकाल अपने आत्माके कल्याणमें वा अन्य भव्यजीवों के कल्याण करनेमें लगे

रहते हैं। ऐसे परमपूज्य देव, शास्त्र, गुरुका तिरस्कार करना महापापका कारण है और ऐसे ही पाप करनेसे यह जीव निंदनीय वा घृणास्पद होता है। इसके सिवाय अधर्मात्मा वा पापी जीवोंकी संगति करनेसे भी अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते रहते हैं। प्रायः धर्महीन मनुष्यों की संगति से ही देव, शास्त्र, गुरुकी निंदा की जाती है। अथवा ऐसे पापियों की संगति से ही अभक्ष्यभक्षण और परधन हरण आदि महापाप किए जाते हैं तथा इन्हीं पापोंके कारण यह जीव परलोकमें जाकर अत्यन्त निंदनीय होता है। इसलिए भव्यजीवोंको पापियोंकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए। ऐसे पापकार्योंसे सदा बचते रहना चाहिए।

आगे अपमृत्यु होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
प्राप्नोति जीवः सहसापमृत्युम्॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे इस जीवको अकस्मात अपमृत्यु होजाती है।

उत्तर—**दत्वान्यजीवाय विषं च तुष्येत्।**
विषाद्विलोक्यैव परस्य मृत्युम्॥
प्रक्षिप्य वह्नौ ह्यसिना च हत्वा।
तस्यापमृत्युः सहसा भवेत्कौ॥ ८९॥

अर्थ—जो पुरुष किसी जीवको विष देकर संतुष्ट होता है, अथवा विषके देनेसे होनेवाली किसी की मृत्युको देखकर संतुष्ट होता है, अथवा जो किसी जीवको अग्निमें फेंककर वा किसीको

तलवार से मारकर प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य अकस्मात् होनेवाली अपमृत्यु से मरता है।

भावार्थ—किसीको विष देकर मारना वा अग्नि में फेंककर मार देना वा तलवार बंदूकसे मार देना वा अन्य किसी प्रकार से जीवों को मार देना महापाप माना जाता है। ऐसा महापाप करने वाला मनुष्य अपमृत्यु से मरता है और मरकर नरकादि दुर्गतियोंमें पहुंचकर चिरकालतक दुःख भोगता रहता है। अपमृत्यु भी पापकर्मके उदयसे ही होती है। तथा पापका फल देनेके लिये ही होती है, यही समझकर भव्यजीवों को सदाकाल पापसे डरते रहना चाहिये।

आगे धन घर आदिके जल जानेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
प्रदह्यते नु ह्यनलैर्गृहादिः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापकार्य के करने से इस जीव का घर धन आदि जल जाता है।

उत्तर—**विध्वंसने चान्यधनादिकानां।**
येन प्रयत्नो दहने कृतश्च॥
दग्धं परेषां सधनं गृहादिः।
प्रदह्यते तस्य धनं गृहादिः॥ ८८॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरों के धन धान्यादिकों के नाश करनेका प्रयत्न करते रहते हैं, वा दूसरोंके घर धन आदिके जलाने का प्रयत्न किया करते हैं अथवा जिन्होंने दूसरोंका धन वा घर जला

दिया है ऐसे मनुष्योंका धन वा घर अग्नि से अवश्य जल जाता है।

भावार्थ—दूसरों के घरमें अग्नि लगा देना, वा धन नष्ट कर देना, रहने का स्थान नष्ट कर देना वा जीविका नष्ट कर देना अथवा और भी ऐसे ही ऐसे पाप करना महापाप का कारण है। ऐसे पापोंके करनेसे पापकर्मों का बन्ध होता है और उस कर्मके उदयसे उसका घर धन आदि सब जल जाता है वा नष्ट होजाता है। इसलिये भव्यजीवों को कभी ऐसा चिंतवन नहीं करना चाहिये।

आगे स्त्री पुत्रादिक के वियोग का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
भार्यादिबंधोश्च भवेद् वियोगः॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइये कि स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु आदि इष्ट जनोंका वियोग किस किस पापकार्यके करने से होता है?

उत्तर—**यैश्चान्यभार्यादिवियोगकार्ये।**
दत्तानुमोदश्च कृतः प्रयत्नः॥
स्वकार्यसिध्यै हि परापमान-।
स्तेषां वियोगः स्वजनैः समं स्यात्॥ ८९॥

अर्थ—जिन जीवोंने पहले जन्ममें अन्य जीवोंकी स्त्री, पुत्र, भाई आदि कुटुंबी लोगों के वियोग करने में प्रयत्न किया है, वा अनुमोदना की है अथवा अपने कार्यकी सिद्धिके लिये दूसरों का अपमान किया है ऐसे लोगों को अगले जन्म में जाकर अपने कुटुम्बी लोगों का वियोग सहन करना ही पड़ता है।

भावार्थ—किसीकी स्त्रीका वियोग करना किसीके पुत्रका वियोग करना वा किसी के भाई का वियोग करना पापका ही कारण है। तथा जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। यही कारण है कि दूसरों के बच्चों का वा स्त्री पुत्रादिकों का वियोग करता है परलोक में जाकर उसके पुत्र, स्त्री आदिका वियोग अवश्य होता है। यही समझकर किसी के कुटुंब का वियोग कभी नहीं करना चाहिये।

आगे धन नाश होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
धनस्य नाशो भवतीह नृणाम्॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मनुष्योंके धन का नाश किस पापकार्य के करने से होता है?

उत्तर—**कृतो धनादेर्हरणे प्रयत्नो।**
द्वारेण राज्ञः किल कारितो यैः॥
चौरादिद्वारेण परस्य हानिः॥
धनादिनाशो भवतीह तेषाम्॥ ६०॥

अर्थ—जो पुरुष दूसरों के धन को हरण करने का प्रयत्न करता है अथवा जो राजा आदि के द्वारा दूसरों के धन को हरण करने का प्रयत्न कराता है, अथवा जो चोर जुआरी आदि की सहायतासे दूसरोंको हानि पहुंचाता है उस पुरुष के धन आदिका नाश अवश्य होता है।

भावार्थ—अनेक लोग ऐसे होते हैं जो दूसरों को हानि

पहुंचानेमें अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। यदि वे स्वयं हानि नहीं पहुंचा सकते, तो फिर किसी चोरकी सहायता से हानि पहुंचा देते हैं अर्थात् चोरी करवा देते हैं, लुटवा देते हैं, अथवा राजा वा राज कर्मचारियोंके द्वारा हानि पहुंचा देते हैं, परस्पर लड़ाकर हानि पहुंचवा देते हैं, अथवा अन्य कितने ही कारणों से हानि पहुंचवा देते हैं ऐसे जीवों के परिणाम सदा अशुभ रहते हैं और उन परिणामोंके निमित्त से बँधे हुए कर्मोंके उदयसे किसी न किसी प्रकार से उनके धनका भी सर्वथा नाश हो जाता है। चाहे वह धनका नाश चोरीसे हो, वा राज्यकी ओर से हो, वा व्यापार के घाटेसे हो वा अन्य आकस्मिक कारणोंसे हो, परन्तु अवश्य हो जाता है। यही समझकर बुद्धिमान् जीवों को दूसरोंकी हानि करने का चिंतवन कभी नहीं करना चाहिये।

आगे कण्ठमाला होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
ग्रंथिश्च कंठे भवतीह जन्तोः॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापकर्मके करने से इस जीव के गले में गांठें वा कंठमाला हो जाती है?

उत्तर—**पीड़ान्यकण्ठे खलु येन दत्ता।**
वा दापिता द्वेषवशाद्धि निंदा॥
कौ ग्रन्थिर्जीवस्य कृता कुचेष्टा।
ग्रंथिर्हि कण्ठे भवतीह तस्य॥ ९१॥

अर्थ—जो मनुष्य अन्य जीवोंके कंठ में दुःख पहुंचाया करते हैं, अथवा किसी द्वेष के कारण दूसरोंके द्वारा पीड़ा पहुंचवाया करते हैं अथवा किसी की निंदा किया करते हैं, अथवा किसी जीवके गलेमें होनेवाली गांठकी कुचेष्टा किया करते हैं ऐसे जीवोंके कंठ में अवश्य ही गांठ उत्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—कंठमें गांठ का उत्पन्न होजाना कंठमाला कहलाती है। यह कंठमाला कष्टसाध्य वा असाध्य रोग कहलाता है। तथा वर्षों तक दुःख देता रहता है, यह ऐसा रोग पापकर्म के उदयसे ही होता है। तथा वह पापकर्म दूसरों को दुःख देने से ही बँधता है जो लोग दूसरों के कंठमें छेदन भेदन कर दुःख पहुंचाया करते हैं, जो स्वयं दुःख नहीं पहुंचा सकते वे दूसरोंके द्वारा पहुंचाया करते हैं वा झूठी निंदा किया करते हैं, अथवा जिस किसी जीवके कंठमें गांठ उठी है, उसकी हँसी किया करते हैं वा दुःख पहुँचाने की नियतसे उसकी गांठ को छिन्न भिन्न किया करते हैं, अथवा अन्य कितने ही उपायों से दुःख पहुंचाने की चेष्टा किया करते हैं ऐसे पुरुषों के गलेमें ऐसी ही कंठमाला होती है और उससे वे महा दुःखी हुआ करते हैं। यही समझकर किसी रोगी को कभी दुःख नहीं देना चाहिये। रोगी की सदा सहायता करते रहना चाहिये।

आगे ऊंटकी पर्याय प्राप्त करने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
मर्त्यः किलोष्ट्रो भवतीह मृत्वा॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पापके करनेसे यह मनुष्य मरकर ऊंट होता है।

उत्तर—**नमेन्न देवं न गुरुं न शास्त्रं।**
बाऽधो महीं यो न विलोक्य गच्छेत् ॥
उद्दण्डवृत्तिश्च धनेन मत्तो।
मृत्वा किलौष्ट्रः स भवेदभाग्यः ॥६२॥

अर्थ—जो मनुष्य न तो अरहंतदेवको नमस्कार करता है, न वीतराग निर्ग्रंथ गुरुको नमस्कार करता है, अथवा जो ऊंची नीची भूमि को देखकर नहीं चलता तथा जो सदा काल उद्दंड वृत्तिको धारण करता रहता है और धनके मद से उन्मत्त रहता है ऐसा मनुष्य मरकर परलोकमें भाग्यहीन ऊंट होता है।

भावार्थ—ऊंटकी पर्याय एक निकृष्ट पर्याय है। उसकी चाल सवारी आदि सब निकृष्ट कहलाती है। ऐसी निकृष्ट और उद्धत पशुकी पर्याय निकृष्ट और उद्धत काम करने से ही प्राप्त होती है। जो मनुष्य मदोन्मत्त वा उद्धत होकर देव, शास्त्र, गुरु आदि किसीको नमस्कार नहीं करता अथवा जो ऊंची नीची भूमि को देखकर नहीं चलता अपनी उन्मत्तता के कारण विना देखे चलता है। अथवा जो सदा काल उद्दंडवृत्ति को धारण करता रहता है और अपने धनके मदसे उन्मत्त होकर किसी को कुछ नहीं गिनता ऐसा उद्धत और उन्मत्त मनुष्य मरकर ऊंट ही होता है।

आगे हाथीकी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
जीवो गजः कौ भवतीह मृत्वा ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस २ पापके करनेसे मरकर हाथीकी पर्यायमें पहुंचता है ?

उत्तर—**व्रतोपवासं न तपो जपं वा ।**

सद्धर्मदेवादिगुरोर्न सेवाम् ॥

कृत्वाऽकरोत्केवलदेहपुष्टं ।

मृत्वा मनुष्योऽपि गजो भवेत्सः ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य न तो कभी व्रत उपवास करता है, न तपश्चरण करता है, न जप करता है और न देव धर्म गुरुकी सेवा करता है। इस प्रकार धार्मिक कार्योंको न करता हुआ जो केवल शरीरको पुष्ट किया करता है ऐसा मनुष्य मरकर हाथी ही होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार हाथीकी पर्याय केवल शोभाके लिए है किसी कामके लिए नहीं है तथा उसके खानेका खर्च भी बहुत अधिक है। ऐसी यह पर्याय उन्हीं जीवों को प्राप्त होती है जो मनुष्य पर्याय पाकर भी व्रत, उपवास, जप, तप, आदि कुछ नहीं करते हैं, न कभी श्रेष्ठधर्म को धारण करते हैं और न कभी देव, शास्त्र, गुरु की सेवा करते हैं। इस प्रकार जो मनुष्य एक भी धार्मिक क्रिया को न करते हुए केवल शरीर को पुष्ट करनेके लिये भोजन किया करते हैं अथवा शरीरको ही पालन पोषण करनेमें रात दिन लगे रहते हैं ऐसे पुरुष मरकर हाथी ही होते हैं। अत एव मनुष्य जन्म पाकरके व्रत, उपवास, जप, तप आदि धार्मिक कार्यों का करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करना चाहिये।

आगे जोंककी पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
मृत्वा मनुष्यश्च भवेद् जलौकः॥

अर्थ—हे भगवन्! अत्र कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस २ पाप के करनेसे जोंक की पर्याय प्राप्त करता है?

उत्तर—**सुखप्रदान् दुःखहरान् परेषां।**
त्यक्त्वा गुणान् ये भवदान् प्रदोषान्॥
गृह्णन्ति कुर्वन्ति सदापमानं।
मृत्वा जलौका भुवि ते भवन्ति॥६४॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रत्येक जीव को सुख देनेवाले तथा दुःखोंको दूर करनेवाले दूसरों के श्रेष्ठगुणों को छोड़ कर केवल जन्म मरणरूप संसारको बढ़ानेवाले दोषोंको ही ग्रहण किया करते हैं तथा जो सदाकाल श्रेष्ठ गुणोंका वा सज्जनोंका अपमान किया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर इस संसारमें जोंककी पर्याय प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जोंककी पर्याय अत्यन्त निंदनीय पर्याय है यदि जोंकको दूध देनेवाले किसी थन पर भी लगादी जाय तो भी वह दूध ग्रहण नहीं किया करती है। इसी प्रकार जो मनुष्य उत्तमसे उत्तम गुणवानोंके समीप रहते हुए भी उनके उत्तम गुणोंको ग्रहण नहीं करते तथा उनके दोषोंको ही ग्रहण किया करते हैं अथवा जो उत्तम गुणियोंमें भी मिथ्या दोष लगा देते हैं ऐसे मनुष्य मरकर जोंक ही होते हैं। जो इस पर्यायमें दूध जैसे उत्तम पदार्थ को छोड़कर रुधिर ही ग्रहण करते हैं।

आगे-उलूक वा उल्लूकी पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा मनुष्यो भुवि कौशिकः स्यात्।

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पाप के करने से मरकर उल्लूकी पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर—**कुर्वन्ति देवस्य न दर्शनं ये।**
पिबन्ति साधोर्वचनामृतं न॥
दूरेऽतिदूरे गुरुतो भ्रमन्ति।
भवन्ति मृत्वा खलु कौशिकास्ते॥६५॥

अर्थ—जो मनुष्य न तो कभी वीतराग देव के दर्शन करता है न कभी वीतराग गुरुओं के वचन रूपी अमृतका पान करता है तथा जो वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंसे दूर दूर रहते हैं उनके समीप तक नहीं जाते ऐसे मनुष्य मरकर उल्लूकी पर्याय प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार उल्लू दिनमें किसीके दर्शन नहीं कर सकता, आंखें कर छिप जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी वीतराग देव के दर्शन कभी नहीं करता, न वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके दर्शन करता है और न उन गुरुओंके मोक्षमार्ग को निरूपण करनेवाले अमृतमय वचनों को सुनता है तथा तीव्रमिथ्यात्वके कारण जो गुरुओं के समीप तक नहीं जाता है ऐसा मनुष्य मरकर उल्लूकी पर्याय प्राप्त करता है।

आगे–डांस मच्छरों की पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्मादि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा मनुष्याश्च भवन्ति दंशाः ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पाप के करनेसे यह मनुष्य मरकर डांस वा मच्छरोंकी पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर—**गुरोः पुरो ये स्तवनं नतिं वा।**
कुर्वन्ति पश्चात् खलु तत्प्रणिन्दाम् ॥
सदापमानं च पुरः परेषां।
मृत्वा नरास्ते च भवन्ति दंशाः ॥९६॥

अर्थ—जो मनुष्य वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके सामने उनकी स्तुति किया करते हैं वा उनको नमस्कार करते हैं और उन मुनियों के पीछे उनकी निंदा किया करते हैं तथा अन्य लोगों के सामने उन्हीं मुनियों का अपमान किया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर डांस मच्छर की ही पर्याय प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मच्छर जिस प्रकार कानपर आकर गीत सुनाया करता है और फिर समय पाकर पीछे से काट लिया करता है उसी प्रकार जो मनुष्य वीतराग मुनियोंके सामने तो उनकी स्तुति किया करते हैं वा उनको नमस्कार भी करते हैं परंतु उनके पीछे उनकी निंदा किया करते हैं वा उनमें मिथ्या कलंक लगाया करते हैं अथवा उनके लिए अन्य कितने ही प्रकारके दुर्वचन कहा करते हैं। इसी प्रकार के जो मनुष्य प्रायः सबका अपमान किया

करते हैं, सबको हानि पहुंचाया करते हैं वा छिप छिपकर हानि पहुंचाते हैं ऐसे मनुष्य मरकर डांस मच्छर ही होते हैं।

आगे—सर्प की पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा मनुष्याश्च भवन्ति सर्पाः ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पाप के करने से सर्प की पर्याय प्राप्त करते हैं।

उत्तर—**धर्मस्वरूपं च गुरूपदेशं।**
श्रुत्वापि बुध्वा सकलं पदार्थम् ॥
वैरं न मिथ्यात्वविषं त्यजन्ति।
मृत्वा जनास्ते च भवन्ति सर्पाः ॥९७॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्म का स्वरूप सुनकर भी गुरु का उपदेश सुनकर भी तथा समस्त पदार्थों का स्वरूप समझकर भी जो अपने वैर विरोध का त्याग नहीं करते हैं अथवा अपने मिथ्यात्व रूपी विष का त्याग नहीं करते ऐसे मनुष्य मरकर सर्प की पर्याय पाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्प जन्म जन्मांतर तक अपना वैर नहीं छोड़ता तथा मंत्रवादियों द्वारा समझाने पर भी, सब प्रकार से संतुष्ट करदेने पर भी अपना वैर नहीं छोड़ता तथा सुखी रखनेपर भी काटना नहीं छोड़ता उसी प्रकार जो मनुष्य गुरु के उपदेश से समस्त तत्त्वों का स्वरूप समझ लेता है, अपने आत्मा का स्वरूप समझ लेता है, वैर विरोध वा कषायों का स्वरूप समझ

लेता है, इतना सब समझ लेने पर भी जो मनुष्य अपना वैर विरोध नहीं छोड़ता वा मिथ्यात्वरूपी विष का त्याग नहीं करता आत्म का स्वरूप समझकर भी जो आत्मा में लीन नहीं होता, वा सम्यग्दर्शन का यथार्थ स्वरूप जानकर भी उसको ग्रहण नहीं करता ऐसा मनुष्य मरकर सर्पका शरीर धारण करता है।

आगे—विच्छू की पर्याय धारण करने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
स्युर्वृश्चिका कौ मनुजाश्च मृत्वा ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पाप के करने से मरकर विच्छू होता है।

उत्तर—**स्वख्यातिहेतोः स्वजनान् परान् वा।**
वाग्वज्रतश्चेतसि ताडयन्ति ॥
दंशन्ति ये नेत्रविकारदन्तै-
स्ते वृश्चिकाः स्युर्मनुजाश्च मृत्वा ॥९८॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी प्रसिद्धि के लिये अपने कुटुम्बी लोगोंके वा अन्य लोगों के हृदयमें अपने वचनरूपी वज्रकी चोटसे ताड़ना करते हैं अथवा जो दांतों से वा नेत्रोंसे विकारोंसे मनुष्यको काटते हैं ऐसे मनुष्य मरकर विच्छू होते हैं।

भावार्थ—विच्छू जिस प्रकार अपने डंक की चोट मारता है उसी प्रकार जो पुरुष वज्र के समान चुभनेवाले कठोर वचनोंकी चोट मारते हैं वा दांतों से काट लेते हैं, अथवा नेत्रों के विकारकी चोट मारते हैं अथवा जो और भी ऐसे ही ऐसे काम करते हैं

ऐसे मनुष्य मरकर विच्छू होते हैं। विच्छू एक निकृष्ट जीव है वह जहां जाता है वहींसे भगाया जाता है वा मारा जाता है। इसी प्रकार कठोर वचन कहनेवाला ही पीटा जाता है वा मारा जाता है। यही समझकर किसी भी भव्यजीव को कठोर वचन कभी नहीं कहने चाहिये।

आगे–चटककी पर्याय प्राप्त होने का कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
मृत्वा नरः स्याच्चटको ह्यभाग्यः॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पाप के करने से यह मनुष्य मरकर चटक वा चिड़ा होता है।

उत्तर—**धनार्जनं ज्ञानविवर्द्धनार्थं।**
दानार्चनार्थं न करोति किंतु॥
पुत्राय वा केवल कुक्षिहेतो-।
मृत्वा स मर्त्यश्चटको भवेत्कौ॥९६॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने धनका संचय कर न तो उससे ज्ञान की वृद्धि करता है और न दान पूजा आदि श्रेष्ठकार्यों में खर्च करता है अथवा उस धन को केवल पेट भरने में खर्च करता है अथवा अपनी संतान पालन करने में खर्च करता है ऐसा मनुष्य मरकर चिड़ा ही होता है।

भावार्थ—धन पाकर के उस धन को दान में खर्च करना पूजा में खर्च करना, देवालय वनवाना, धार्मिक शिक्षा देना आदि श्रेष्ठ कार्यों में ही खर्च करना चाहिये।

यह मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। धन का प्रयोजन केवल पेट भर लेना नहीं है। क्योंकि पेट तो कौआ आदि नीच जानवर भी भर लेते हैं। मनुष्य जन्म पाकर के परलोक सुधारना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। इतना समझते हुए भी जो मनुष्य प्राप्त हुए धन से केवल अपना पेट भरते हैं अथवा केवल अपनी संतान के भरण पोषण में ही अपना धन खर्च कर डालतेहैं ऐसा मनुष्य मरकर चिड़ा ही होता है। क्यों कि चिडा भी केवल अपना पेट भरता है और यथाशक्ति संतान को पाल लेता है। यही समझकर धनी पुरुष को सदाकाल अपना धन धर्म कार्य में खर्च करते रहना चाहिये।

आगे-तोते की पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**

मृत्वा मनुष्योऽपि शुको भवेत्कौ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस पाप के करने से तोते की पर्याय प्राप्त करता है?

उत्तर—**ज्ञानादिगर्वं भुवि केवलं यः।**

करोति किंचित्सुखदं न कार्यम्॥

मिष्टं सदा जल्पति यत्र तत्र।

मृत्वा शुकः स्यान्स च भाग्यहीनः॥१००॥

अर्थ—जो मनुष्य इस संसार में सदाकाल ज्ञान, धन आदि का अभिमान करता रहता है और अन्यजीवों को सुख देनेवाला कार्य कभी नहीं करता तथा जो इधर उधर घूमता हुआ

केवल मीठे वचन सुना देता है ऐसा मनुष्य मरकर भाग्यहीन तोते की पर्याय प्राप्त करता है।

भावार्थ—तोता केवल मीठा बोलता है इसके सिवाय वह अन्य किसी काम में नहीं आता। इसी प्रकार जो मनुष्य इस संसारमें केवल धन वा ज्ञान के अभिमानमें चूर रहता है जो अन्य जीवोंको सुख देनेवाला परोपकार वा दानादिकका कार्य किंचिन्मात्र भी नहीं करता। केवल मीठे वचन कहता हुआ इधर उधर घूमता रहता है ऐसा मनुष्य मरकर तोते की ही पर्याय प्राप्त करता है। यही समझकर भव्यजीवों को अपने ज्ञान वा धन आदिका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये, तथा केवल मीठे वचन कह कर ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, किंतु उन मीठे वचनों के साथ साथ अपने आत्मा का तथा अन्य जीवों का कल्याण भी करना चाहिये। अपने ज्ञानसे जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये और धन को दान में खर्च कर भव्यजीवोंको सहायता देनी चाहिये।

आगे—वृक्ष की पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा मनुष्यो भवतीह वृक्षः॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पाप के करने से वृक्ष की पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर—**स्वर्मोक्षदं शान्तिकरं सदा यः।**
जिनं सुधर्मं च गुरुं विगर्वात्॥
न वन्दते बोधकरं च शास्त्रं॥
मृत्वा स मर्त्यो भवतीह वृक्षः॥१०१॥

अर्थ—इस संसार में देव, शास्त्र, गुरु और सद्धर्म ही स्वर्ग मोक्ष देने वाले हैं और आत्मा में शांति उत्पन्न करने वाले हैं। जो मनुष्य अपने अभिमान से देव गुरु धर्म की वंदना नहीं करता है वह मनुष्य मरकर वृक्ष ही होता है।

भावार्थ—वृक्ष सदा खड़ा ही रहता है वह किसीके सामने भी नम्र नहीं होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य इतना अभिमानी है कि जो भगवान् के सामने जाकर भी कभी नम्र नहीं होता है। जो भगवान् समस्त आत्माओं का कल्याण करने वाले समस्त जीवों को अभयदान देनेवाले हैं, समस्त जीवोंको सुख देनेवाले अहिंसा धर्म का उपदेश देनेवाले हैं और स्वर्ग मोक्ष के साक्षात् कारण हैं। ऐसे भगवान को भी नमस्कार न करना उनके सामने जाकर भी वृक्ष के समान खड़े रहना महापाप है। क्योंकि इन्द्रादिक देव भी भगवान को नमस्कार करते हैं फिर भला मनुष्य की तो बात ही क्या है। जो मनुष्य होकर भी भगवान् को नमस्कार नहीं करता वा उनके कहे हुए शास्त्र वा धर्म को नमस्कार नहीं करता अथवा निर्ग्रंथ गुरुओंको नमस्कार नहीं करता ऐसा मनुष्य मरकर अपने गाढ अभिमान के कारण वृक्ष ही होता है। यही समझकर मनुष्यों को अभिमान कभी नहीं करना चाहिये।

आगे—मयूर की पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**

मर्त्योऽपि मृत्वा च शिखी भवेत्कौ ॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पाप के करने से मयूर की पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर—**स्वात्मानुभूतेः स्वरसं न पीत्वा।**

हठात्स्वरसं पाययति परान् यः ॥

त्यक्त्वा स्वकृत्यं यतते परार्थं।

स स्याच्छिखी कौ मनुजोऽपि मृत्वा ॥१०२॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने आत्मा के अनुभव से उत्पन्न हुए शुद्ध आत्मा के रस को स्वयं नहीं पीता है किंतु हठपूर्वक दूसरोंको पिलाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जो अपने आत्मकर्तव्यको छोड़कर दूसरों का उपकार करने के लिये प्रयत्न करता है वह मनुष्य मरकर मयूर ही होता है।

भावार्थ—मयूर स्वयं महापाप उत्पन्न करता रहता है, वह प्रतिदिन अनेक कीड़ों को मारकर खा जाता है तथापि वह केवल देखने में सुंदर लगता है और शब्द मीठा बोलता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने आत्मा का कल्याण तो कभी करता नहीं, तथा स्वयं अनेक प्रकार के पाप किया करता है और फिर भी दूसरोंका कल्याण करने के लिये लंबे चौड़े उपदेश दिया करता है और सदा परोपकार करने का नाटक दिखाया करता है ऐसा मनुष्य मरकर मयूर की पर्याय प्राप्त करता है। यही समझ कर सबसे पहले

अपने आत्मा का कल्याण करना चाहिये अपने आत्माका कल्याण कर लेने पर दूसरे के कल्याण करने का प्रयत्न करना चाहिये। तथा अपने आत्मा का कल्याण कर लेने पर ही दूसरोंका कल्याण किया जा सकता है।

आगे-गिद्ध की पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मृत्वा मनुष्यो भवतीह गृद्धः ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पाप के करने से यह मनुष्य मरकर गीध की पर्याय प्राप्त करता है।

उत्तर—**कृत्वा स्वयं नैव धनार्जनादि।**
यः केवलं बंधुगृहे भुनक्ति॥
गच्छेत्सदा यत्र लभेत वाऽन्नं।
मर्त्यः स मृत्वा भवतीह गृद्धः ॥१०३॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं कभी धनोपार्जन नहीं करता, केवल कुटुंबमें जाकर भोजन कर लेता है तहां जहांपर अन्न मिल जाता है वहीं पर चला जाता है। ऐसा बेकार मनुष्य मरकर गीध की पर्याय प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार गीध मांस भक्षण करता है और वह भी मरे हुए पशुओं का ही मांस भक्षण करता है तथा जहां कहीं मांस पड़ा दिखाई देता है वहीं पहुंच जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य कभी कुछ कमाता नहीं न कमाने का कभी प्रयत्न

करता है, भाई बन्धुओंके यहां जैसा कुछ मिल जाता है खा लेता है। यदि घर में कुछ खाने को न मिला तो फिर जहां भोजन मिलता है वहीं जा पड़ता है और भक्ष्य अभक्ष्य जो कुछ मिल जाता है खा लेता है। जो भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ विचार नहीं करता, निकृष्ट से निकृष्ट भोजन कर लेता है ऐसा मनुष्य मरकर अवश्य ही गीध की पर्याय प्राप्त करता है।

आगे-बंदर की पर्याय प्राप्त करने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
मर्त्योऽपि मृत्वा च कपिर्भवेत्कौ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस किस पापके करनेसे वंदरकी पर्याय धारण करता है।

उत्तर—**देशेऽन्यदेशेऽन्यगृहेऽपि गच्छे--**
न्निष्कारणं यश्च वनस्पतीन् वा॥
छिनत्ति धर्मायतनं भिनत्ति।
मृत्वा स मर्त्यश्च भवेत्कपिः कौ॥१०४॥

अर्थ—जो मनुष्य विना कारण के ही देश विदेश घूमता फिरता है वा विना कारण के ही अनेक वनस्पतियों को तोड़ता फिरता है वा जिनालय आदि धर्मायतनों को तोड़ता फिरता है ऐसा मनुष्य मरकर बंदर की पर्याय प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार बंदर देश विदेश के समस्त स्थानोंमें घूमता फिरता है, वा घर घर घूमता फिरता है और वह भी विना किसी प्रयोजन के घूमता रहता है, तथा अनेक वनस्पतियों को

अनेक वृक्षोंको, अनेक फलों को अनेक पुष्पों को तोड़ डालता है वा अनेक घरों में, मंदिरों में पहुंचकर हानि पहुंचाया करता है वा उनको तोड़ फोड़ दिया करता है ऐसा मनुष्य मरकर बंदर की पर्याय में उत्पन्न होता है। यही समझकर भव्य जीवों को ऐसे पापों से सदा काल बचते रहना चाहिये।

आगे—साधर्मियोंके साथ विवाद करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च करोति जीवः।**
वृथा विवादं सहधार्मिकैश्च ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पाप के करने से धर्मात्माओं के साथ वाद विवाद करता रहता है?

उत्तर—**देवस्य धर्मस्य गुरोः पुरा यैः।**
कृतोऽपमानश्च वृथा विवादः ॥
कुर्वन्ति संस्कारवशात्प्रकोपं।
साधर्मिकैस्ते विवदन्ति लोके ॥१०५॥

अर्थ—जो पुरुष पहले जन्ममें देव, धर्म, गुरुका अपमान करते हैं अथवा पहले जन्म के संस्कारोंके निमित्तसे गुरुओंपर क्रोध करते हैं वा उनके साथ विवाद करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर दूसरे लोक में जाकर भी धर्म में वा धर्मात्माओं के साथ वादविवाद किया करते हैं।

भावार्थ—धर्म में धर्मात्माओं के साथ विवाद करना वा धर्म में किसी प्रकारकी शंका रखना सम्यग्दर्शनको नष्ट करना है वा मिथ्यात्व को बढ़ाना है। गुरु के साथ तो कभी वाद विवाद करना

ही नहीं चाहिए क्योंकि गुरुकी तो आज्ञा ही मान्य होती है। गुरु वीतराग होते हैं और समस्त आशाओं से रहित निर्ग्रंथ होते हैं। वे जो कुछ कहते हैं आत्मकल्याण के लिए ही कहते हैं। ऐसे निस्पृह गुरुओं के साथ विवाद करना पापका कारण है। ऐसा पाप वही मनुष्य करता है जो पहले भव में देव, धर्म, गुरु का अपमान करता है, उन्हें पूज्य नहीं मानता, वा उनकी निंदा करता रहता है, वा धर्म की हँसी उड़ाता है वा धर्मात्माओं के साथ विवाद करता रहता है, वा धर्मात्माओं को नीचा दिखाता रहता है, वा अन्य कितने ही ऐसे ही ऐसे काम किया करता है। ऐसा मनुष्य मरकर गुरुओंके साथ वा धर्मात्माओं के साथ झगड़ने वाला वा वादविवाद करनेवाला होता है।

आगे राजा को भी रंक होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
राजापि मृत्वा भवतीह रंकः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करने से राजा भी मरकर रंक हो जाता है ?

उत्तर—**धर्मादिशून्यो विषये निमग्नो।**
द्वेषी प्रजानां पशुवद्विहारी ॥
मांसाशनो यो मदिराप्रपायी।
मृत्वा स राजा भवतीह रंकः ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो राजा धर्म कर्म से सर्वथा रहित होता है, इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन रहता है, प्रजासे द्वेष करता रहता है, पशु-

ओंके समान विहार करता रहता है, मांस भक्षण करता है और मदिरा पान करता है। ऐसा राजा मरकर इसी संसारमें अत्यन्त दरिद्र रंक होता है।

भावार्थ—राजाओं को धर्मात्मा होना अत्यावश्यक है। क्योंकि राजाओं के धर्मात्मा होनेसे समस्त प्रजा धर्मात्मा हो जाती है। यदि राजा पापी होता है तो समस्त प्रजा पाप करने लग जाती है। प्रजा सदाकाल राजा का अनुकरण करती रहती है। राजा प्रजा दोनोंके पाप करनेसे राज्य नष्ट हो जाता है तथा दोनों के पुण्य करनेसे राज्य की वृद्धि होती है। इसलिये जो राजा धर्मकार्यों से वंचित रहता है कभी धर्मकार्य नहीं करता वह राजा मरकर परलोकमें अत्यन्त दरिद्री रंक होता है। इसी प्रकार जो राजा सदाकाल विषयों में लीन रहता है, वह भी मरकर रंक ही होता है। क्योंकि सदाकाल विषयों में लीन रहनेवाला राजा न तो धर्म कर्म कर सकता है, न प्रजा का पालन कर सकता है और न धर्मात्माओं की रक्षा कर सकता है। तथा उसकी देखा देखी उसकी प्रजा भी ऐसी ही हो जाती है। इसलिये राजाओंको धर्मकार्य करते हुए न्यायपूर्वक इन्द्रियों को तृप्त करना चाहिये। इसी प्रकार जो राजा प्रजासे द्वेष करता है प्रजाको पुत्र के समान पालन नहीं करता वा पशुओं के समान सदाकाल विना प्रयोजनके भी इधर उधर घूमा करता है अथवा जो मद्यपान मांसभक्षण आदि निकृष्ट पदार्थों का सेवन करता है ऐसा राजा मरकर परलोक

में निकृष्ट वा नीच रंक होता है। यही समझकर राजाओं को ऊपर लिखे निकृष्ट कार्यों से सदा बचते रहना चाहिये।

आगे कुदेव कुशास्त्र वा कुगुरुकी प्रशंसा करने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च करोति जीवः।**
कुदेवधर्मादिगुरुप्रशंसाम् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे कुदेव कुधर्म वा कुगुरुकी प्रशंसा किया करता है ?

उत्तर—**कुदेवशास्त्रस्य गुरोः पुरा यैः।**
श्रद्धा कृता वा विनयादिभक्तिः ॥
कुर्वन्ति संस्कारवशात्त एव।
परत्र लोकेपि च तत्प्रशंसाम् ॥१०७॥

अर्थ—जिन लोगोंने पहले जन्ममें कुदेव कुशास्त्र वा कुगुरु की श्रद्धा की है वा इन्हीं कुदेव कुशास्त्र कुगुरु की विनय, भक्ति की है ऐसे जीव मरकर अपने संस्कारोंके निमित्त से परलोक में भी जाकर कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं की ही प्रशंसा किया करते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्वका संस्कार जन्म जन्मांतर तक जाता है। जो मनुष्य इस जन्ममें गाढ मिथ्यात्वमें लीन रहता है वह मनुष्य परलोकमें जाकर भी उसी मिथ्यात्वमें लीन बना रहता है। मिथ्यात्वकर्म करनेसे जो दर्शन मोहनीय कर्म का बंध होता है

उसकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोडी सागर तक की रहती है अर्थात् सत्तरि कोडा कोडी सागर तक वह एक समयमें बंधा हुआ कर्म फल देता रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक समयमें बंधा हुआ कर्म अपनी स्थिति के अनुसार तथा अनुभाग के अनुसार फल दिया करता है। तथा उसीके अनुसार वह जीव मिथ्यात्व सेवन किया करता है। यही कारण है कि जो पुरुष पहले जन्ममें कुदेवादिकका श्रद्धान करता वा उनकी विनय भक्ति करता है वह पुरुष अगले जन्म में भी उन्हीं कुदेवादिकों का श्रद्धान करता है उन्हीं की विनय भक्ति करता है और उन्हीं की प्रशंसा करता है। यही समझकर तथा काल लब्धि को पाकर भव्यजीवों को अपने मिथ्यात्व का त्याग कर देना चाहिये और शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेना चाहिये। मिथ्यात्व के संस्कार से ही वहुतसे विद्वान् शास्त्रोंको पढ़कर भी उनके विपरीत चलते हैं अपने तीव्र मिथ्यात्व के उदय से शास्त्रोक्त कर्तव्यों को मिथ्या वतलाते हैं पात्रदान का निषेध करते हैं, ऐसे लोग परलोक में भी जाकर शास्त्रोंका यथार्थ श्रद्धान नहीं कर सकते।

आगे घर गृहस्थी से रहित होने का कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।

मृत्वा नरः स्याद् गृहदारहीनः॥

अर्थ—हे प्रभो! अव कृपाकर यह वतलाइये कि यह मनुष्य मरकर किस २ पापके करनेसे घर गृहस्थीसे रहित होता है?

उत्तर—**छित्वा गृहादिं मधुमक्षिकाणां ।**
वा पक्षिकाणां च रसं पिबन्ति ॥
लोभात्परेषां च कलेवरं ये ।
भवन्ति कौ ते गृहदारहीनाः ॥ १०८ ॥

अर्थ—जो पुरुष मधु मक्खियोंके छत्ते तोड़ डालते हैं और उनके शहदको खा पी जाते हैं अथवा बया आदि अनेक पक्षियों के घोंसले तोड़ डालते हैं वा तीव्र लोभके कारण उन पक्षियों का मांस खा जाते हैं ऐसे मनुष्य मरकर घर स्त्री आदि सबसे रहित अकेले ही होते हैं ।

भावार्थ—किसी भी पशु, पक्षी का घर बिगाड़ देना, उसको आश्रय हीन बना देना महापाप है मधु मक्खियों का छत्ता तोड़नेमें तो अनेक मक्खियों की हिंसा होती है तथा अनेक मक्खियां बिना घरबारके आश्रयरहित हो जाती हैं । तथा शहदका स्पर्श करने मात्रसे उसमें रहनेवाले अनन्त जीव मर जाते हैं । इसी प्रकार किसी पशु, पक्षीको मार देना भी उसके कुटुम्ब को दुःखी करना है । इसलिए जो मनुष्य इस जन्ममें दूसरोंका घरबार तोड़ता है वह मनुष्य मरकर अगले जन्म में घर गृहस्थी से रहित अकेला ही रहता है ।

आगे कीड़े मकोड़े की पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे ।**
मृत्वा नरः स्यात्खलु कीटकः कौ ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस २ पापके करनेसे यह जीव मरकर कीड़े मकोड़ों में उत्पन्न होता है?

उत्तर—**रक्षा समित्या लघुप्राणिनां वा।**
कृता न दृष्टा गुरुदेवमुद्रा॥
दीना न तुष्टा धनगर्वितैर्यैं।
भवन्ति दुष्टा भुवि कीटकास्ते॥ १०९॥

अर्थ—जो पुरुष समितियों का पालन कर छोटे छोटे प्राणियोंकी रक्षा नहीं करते हैं, न देव शास्त्र गुरुके दर्शन करते हैं, और धनके मदसे मदोन्मत्त होकर जो किसी भी दीन दरिद्री को संतुष्ट नहीं करते ऐसे मनुष्य मरकर इसी संसार में दुष्ट छोटे छोटे कीड़े होते हैं।

भावार्थ—छोटे छोटे कीड़े थोड़ासा कारण मिलने पर योंही मरजाते हैं, कोई पैरके तले दबकर मर जाता है। कोई लीद गोबर में दबकर मर जाता है, कोई मल मूत्र में दबकर वा बह कर मर जाता है और कोई पानी में बह कर मर जाता है। जो मनुष्य ऐसे छोटे छोटे जीवों की रक्षा नहीं करते हैं भूमि को देख कर नहीं चलते हैं वा देख शोधकर पदार्थों को न उठाते हैं न रखते हैं, जो मलमूत्र भी देख शोधकर नहीं करते तथा अपने प्रमादके कारण इन सब कामों में छोटे छोटे कीड़े मकोड़ों का घात किया करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर अगले जन्म में छोटे छोटे कीड़े होते हैं जिन्हें अन्य लोग सब दाब दूब कर मार देते हैं। इसी प्रकार जो जीव देव, शास्त्र, गुरुके दर्शन नहीं करते, न

उनका उपदेश सुनते हैं और न उनपर श्रद्धान रखते हैं। तथा जो दीन दरिद्री मनुष्योंको कभी संतुष्ट नहीं करते, कभी उनको भोजन तक दान में नहीं देते और सदाकाल धनके मदमें उन्मत्त रहते हैं ऐसे मनुष्य मरकर छोटे छोटे कीड़े होते हैं। यही समझकर छोटे छोटे कीड़े मकोड़ों की रक्षा अवश्य करते रहना चाहिये। तथा दीनदरिद्रियों को कुछ न कुछ दान देकर अवश्य संतुष्ट करते रहना चाहिए।

आगे शक्तिहीन होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
मृत्वा नरः स्याद्भुवि शक्तिहीनः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर बतलाइये कि यह जीव किस किस पापके करनेसे मरकर अत्यन्त शक्तिहीन होता है?

उत्तर—**स्वार्थाभिसिद्धयै स्वबलेन जन्तून्।**
हत्वा च भीतिं खलु दर्शयित्वा॥
वद्धा सदाः वन्दिगृहे जना यै।
मृत्वा खलास्ते च भवन्त्यशक्ताः॥ ११०॥

अर्थ—जो निर्दय मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करने के लिए अपने बल से भय दिखलाकर दूसरे प्राणियों को मार देते हैं अथवा जो उनको बांधकर वन्दीगृहमें डाल देते हैं ऐसे दुष्ट मनुष्य मरकर परलोकमें शक्तिहीन ही होते हैं।

भावार्थ—जो बलवान् पुरुष इस जन्म में शक्तिहीन मनुष्योंको दबाया करते हैं, अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए उन्हें

वन्दीगृहमें डलवा देते हैं, उन्हें लूट लेते हैं उनका घरवार छीन लेते हैं, धन धान्य छीन लेते हैं वा समय पड़ने पर उन्हें मार भी देते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोकमें जाकर अत्यन्त शक्तिहीन होते हैं, तथा ऐसे शक्तिहीन होते हैं कि जिन्हें सब लोग दबा लें, अनेक प्रकारके दुःख पहुंचावें, वन्दीगृह में डलवा दें वा मरवा दें। यही समझकर वलवान् पुरुषों को कभी दीन दुखियों को नहीं सताना चाहिए, किंतु जितनी वन सके उतनी उनकी सहायता करनी चाहिए।

आगे श्रेष्ठकार्य करनेपर भी निंदा होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**निंदैव सत्कार्यकृतेऽपि कस्मात्।**
कर्मोदयात्स्याद्भवतीह लोके ॥

अर्थ—हे गुरो! अब कृपाकर यह वतलाइये कि किस किस पापकार्यके करने से वा किस कर्मके उदयसे श्रेष्ठकार्य करने पर भी मनुष्य की निंदा होती है।

उत्तर—**सत्कार्यकर्तुर्भुवि दीनबन्धोः।**
सम्पूर्णविश्वे यततः प्रशान्त्यै ॥
निंदा कृता येन नरोत्तमस्य।
स्यादेव सत्कार्यकृतेऽपि तस्य ॥ १११ ॥

अर्थ—जो पुरुष इस संसारमें सदाकाल श्रेष्ठकार्य करते रहते हैं, जो दीन दरिद्रियों को सदाकाल सहायता देते रहते हैं, और जो समस्त संसारमें शांति स्थापित करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं ऐसे उत्तम पुरुषोंकी भी जो लोग निंदा किया करते हैं ऐसे

पुरुप यदि सत्कार्य करते रहें तो भी उनकी निंदा ही होती है।

भावार्थ—श्रेष्ठ कार्य करने पर भी निंदा का होना पापकर्म के उदयका ही कार्य माना जाता है। जो लोग उत्तम गुणवान् मनुष्योंकी निंदा किया करते हैं, सत्कार्य करनेवालों की निंदा किया करते हैं, धार्मिक विद्वानों की निन्दा किया करते हैं वा धर्मकार्योंकी निंदा किया करते हैं, जो शास्त्रोक्त वचनों को मिथ्या ठहराने का प्रयत्न करते हैं, वा शास्त्रोक्त वचनों के प्रतिकूल चलते हैं, वा शास्त्रोक्त वचनोंमें दोष लगाते हैं, वा देव शास्त्रोंको नीच अस्पृश्य मनुष्योंसे स्पर्श कराते हैं अथवा जो और भी ऐसे ही ऐसे धर्म विरुद्ध नीतिविरुद्ध कार्य करते हैं ऐसे मनुष्य परलोक में जाकर यदि श्रेष्ठ कार्य भी करते हैं तो भी किसी न किसी प्रकार से उनकी निंदा होती है। अतएव धर्मविरुद्ध वा नीतिविरुद्ध कार्य कभी नहीं करना चाहिये।

आगे सत्कार्य करनेपर भी धनादिक की हानि होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च भवेद्धनादेः।**
सदा हि सत्कार्यकृतेऽपि हानिः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि श्रेष्ठ कार्यों के करनेपर भी इस मनुष्य के धन की हानि किस कारण से होती है।

उत्तर—**दानादिपूजां न जपं तपो हि।**
कृत्वा न धर्मं भुवि केवलं यः॥

धनार्जने स्यान्निरतश्च तस्य।
हानिः सुसत्कार्यकृते धनादेः ॥११२॥

अर्थ—जो पुरुष दान, पूजा, जप, तप, वा अन्य धार्मिक कार्यों को कभी नहीं करता है केवल धनसंचय करनेमें सदाकाल तल्लीन रहता है ऐसा पुरुष परलोक में जाकर यदि श्रेष्ठकार्य भी करता है तो भी उसके धनादिक की हानि होती ही है।

भावार्थ—धनसंचय करनेके साथ इस मनुष्य को धर्मकार्य भी अवश्य करते रहना चाहिए। भगवन्त की पूजा करना, तथा मुनियों की वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना आदि प्रत्येक दिनके करने योग्य धर्मकार्य हैं। इन कार्यों में प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ द्रव्य अवश्य खर्च करते रहना चाहिये। कमाये हुए धनमेंसे चौथाई भाग वा दशवां भाग धर्मकार्यमें अवश्य खर्च कर देना चाहिए। इन कार्योंके सिवाय तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन, गुरुसेवा आदि भी धर्मकार्य हैं इनमें भी यथाशक्ति खर्च करना प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य है। धन कमानेमें पापकर्मका वन्ध होता ही है। यदि उस धनको किसी भी धर्मकार्यमें न लगाया जाय तो फिर पाप ही पाप वना रहता है। उस धन को धर्मकार्य में लगाने से जो पुण्यकी प्राप्ति होनी चाहिए वह नहीं होती। यही कारण है कि अगले जन्ममें जाकर उस पापकर्मके उदय से श्रेष्ठकार्योंके करनें पर भी उसके धनादिक की हानि बराबर होती रहती है। यही समझकर धर्म कार्यमें आलस कभी नहीं करना चाहिये।

आगे अनावृष्टि वा वर्षा न होने का कारण दिखलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो! मे।**
काले हि काले न भवेत्सुवृष्टिः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करनेसे समय समय पर अच्छी वर्षा नहीं होती।

उत्तर—**न धार्मिका वा मुनयो न यत्र।**
न देवपूजा न च पात्रदानम्॥
दुष्टा जना यत्र वसन्ति तत्र।
वृष्टिर्न शान्तिश्च भवेत्कदापि॥ ११३॥

अर्थ—जिस देशमें न तो धार्मिक पुरुष रहते हैं, न मुनि लोग रहते हैं, जहां पर न देव पूजा होती है और न पात्रदान होता है तथा जहां पर दुष्ट अधार्मिक लोग ही निवास करते हैं ऐसे देशमें वृष्टि और शांति कभी नहीं होती है।

भावार्थ—जिस देश में धर्मात्मा और पुण्यवान जीव आकर जन्म लेते हैं, जहां पर प्रतिदिन देव पूजा होती रहती है, विधिपूर्वक अभिषेक होता रहता है, नैमित्तिक विधिविधान होते रहते हैं, वा प्रतिष्ठादिक कार्य होते रहते हैं, जहांपर वीतराग निर्ग्रंथ मुनिराज भी आकर निवास करते हैं, जहांपर मुनियोंको प्रतिदिन आहारदान दिया जाता है, उनका उपदेश सुना जाता है, उनकी सेवा की जाती है, जहांपर समय समयपर रथोत्सव आदिके द्वारा धर्मप्रभावना होती है, अथवा जहांपर समय समयपर श्रावकोंको आहार दानादिक देकर समदत्तिका प्रचार किया जाता है, ऐसे देशोंमें सदाकाल समयानुसार वर्षा

हुआ करती है, परन्तु जहांपर ये ऊपर लिखे कार्य नहीं होते और जहांपर दुष्ट लोग ही निवास करते हैं ऐसे देशमें न तो समयानुसार वृष्टि होती है, और न कभी शांति ही रहती है।

आगे—पुण्यकार्य करने वाले के साथ वैर विरोध करनेका कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च वद प्रभो ! मे।**
सुपुण्यकर्तुश्च परैर्विरोधः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पापके करने से यह जीव पुण्यवान् मनुष्यों के साथ वा पुण्यकार्य करने वाले मनुष्योंके साथ वैरविरोध करता है।

उत्तर—**पूर्व मिथो वैरविरोधकर्तुः।**
संगः कृतो येन खलादिसेवा ॥
तस्यैव संस्कारवशात्समं सः ॥
करोति वैरं शुभकृत्यकर्तुः ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पहले जन्ममें वैर विरोध करने वालों की संगति करते हैं वा दुष्ट लोगोंकी सेवा करते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें जाकर पहले जन्मके संस्कारके निमित्तसे पुण्यकार्य करने वालोंके साथ भी वैर विरोध किया करते हैं।

भावार्थ—किसी के साथ वैर विरोध करना पापका कारण है। फिर भला पुण्यकार्य करनेवालेके साथ वैर विरोध करना तो और भी अधिक पापका कारण है। जो पुरुष विना कारण वैर विरोध करनेवालों की संगति किया करते हैं वा उनके देखा देखी

सज्जनों के साथ वैर विरोध किया करते हैं वा दुष्ट लोगों की संगति किया करते हैं वा उनकी सेवा किया करते हैं, अथवा श्रेष्ठधर्म का विरोध किया करते हैं ऐसे मनुष्य परलोक में भी अपने वैर विरोध के संस्कार को साथ ले जाते हैं। और फिर उस संस्कार के निमित्त से पुण्यकार्य करनेवालों के साथ भी वैर विरोध किया करते हैं। यही समझकर दुष्ट लोगों की संगति कभी नहीं करनी चाहिये तथा वैर विरोध करनेवालों की संगति भी कभी नहीं करनी चाहिए।

आगे विपरीत बुद्धि हो जाने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पापाच्च भवेन्नराणां।**
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस २ पाप के करने से मनुष्यों की बुद्धि विनाश होने के समय विपरीत रूप परिणत होजाती है?

उत्तर—**कालोत्थबुद्धेः सुखशान्तिदात्र्या-।**
नाशाय यत्नो हिं कृतश्च येन॥
तस्यैव हानिश्च सदापमानो।
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः॥११५॥

अर्थ—पुण्यवान् और बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि, सुख और शांति उत्पन्न करने वाली होती है और समयानुसार उत्पन्न हो जाती है। परंतु जो पुरुष उस श्रेष्ठबुद्धि को भी नाश करने के लिए प्रयत्न करता है, उस मनुष्य की सदा हानि होती रहती है,

सदा अपमान होता रहता है और उसके सदा विनाश होनेके समय उसकी बुद्धि अवश्य ही विपरीतरूप परिणत हो जाती है।

भावार्थ—किसीकी श्रेष्ठ बुद्धिका नाश करना उसके आत्मा की निर्मलताका घात करना है। क्योंकि बुद्धि वा ज्ञान ही आत्मा का एक ऐसा प्रगट होनेवाला गुण है जो आत्मा का चिह्न माना जाता है। ज्ञानसे ही आत्मा का अस्तित्व मानना पड़ता है। ऐसे ज्ञानका वा ऐसी श्रेष्ठबुद्धिका नाश कर देना उस आत्माकी उच्चता निर्मलता वा उत्तमता का नाश कर देना है। परंतु इस प्रकार आत्माकी निर्मलताका नाश कर देना महापापका कारण है। और इसी पापके उदयसे जब यह आत्मा परलोकमें जाकर उत्पन्न होता है तब स्थान स्थान पर उसकी हानि होती है और उसका नाश होनेके लिए उसकी बुद्धि विपरीत वा भ्रष्ट हो जाती है। जिससे कि वह अनेक अन्याय और अनर्थ करता हुआ नरक निगोदका पात्र हो जाता है। यही समझकर किसी की बुद्धिको भ्रष्ट करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि किसी की बुद्धि विपरीत हो गई हो तो समझा बुझाकर उसको बदलने का प्रयत्न करना चाहिए। तथा उसे मोक्षमार्ग में लगाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

आगे इस अध्याय के पठन पाठन का अभिप्राय दिखलाते हैं।

ज्ञात्वेति निंद्यं विषमन्यथादं।
त्यक्त्वापि कुर्वन्त्वशुभोपयोगम् ॥
शुभोपयोगेऽक्षसुखादिमूले।
वृत्तिं च शुद्धे हि ततस्व गन्तुम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—इन सब विषयोंको अच्छे प्रकार से पठन पाठन कर भव्य जीवोंको अत्यन्त निंदनीय और अत्यन्त दुःख देनेवाले अशुभोपयोग का त्याग कर देना चाहिये तथा इन्द्रियजन्य सुखोंके मूल कारणभूत शुभोपयोग में अपना मन लगाना चाहिये और अंतमें शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये।

भावार्थ—इस अध्यायमें जो कुछ वर्णन किया है उससे यह सिद्ध हो जाता है कि पापकर्म करने से अशुभोपयोग होता है, तथा अशुभोपयोग होनेसे फिर पापकर्मों का वन्ध होता है। इस प्रकार एक वारके अशुभोपयोगसे भी पापोंकी परंपरा बरावर चलती रहती है और उन पापों के कारण इस जीवको नरकनिगोदादिकके महादुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिये भव्यजीवोंको सबसे पहले इस अशुभोपयोग का त्याग करना चाहिये। समस्त दुःखों का मूल कारण यह अशुभोपयोग ही है। इसका त्याग किये विना आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता। तथा आत्माका कल्याण करना प्रत्येक जीवके लिये परमावश्यक है। अतएव अशुभोपयोगका त्याग कर शुभोपयोग धारण करना चाहिये और शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए। क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति शुद्धोपयोग से ही होती है।

आगे समस्त अध्याय का सार वतलाते हैं।

मतिः स्याद् यादृशी यस्य तस्य स्यात्तादृशी गतिः।
यदर्थे यस्य भावोऽस्ति प्रायस्तल्लभते हि सः ॥११७॥

अर्थ—जिस मनुष्यकी जैसी वुद्धि होती है उस मनु-

गति भी वैसी ही। तथा जिस मनुष्य का भाव जिस पदार्थ के लिए होता है उस मनुष्यको वह पदार्थ अवश्य प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—संसारमें जितने पुण्य वा पाप हैं वे सब अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार होते हैं। यदि बुद्धि भ्रष्ट होती है वा पापरूप होती है तो उस जीवसे सदाकाल पाप होते रहते हैं, यदि जिस किसी की बुद्धि सरल और यथार्थ होती है वह मनुष्य पापोंसे बचता हुआ सदाकाल पुण्यकार्य ही करता रहता है। इसीलिए आचार्य महाराजने कहा है कि जिसकी जैसी बुद्धि होती है उस को वैसी ही गति प्राप्त होती है। वहां पर गतिशव्दका अर्थ पुण्य पापरूप है। अथवा पुण्यसे स्वर्गादिक गति प्राप्त होती है और पापसे नरकादिक गति प्राप्त होती है। अथवा जिस किसी मनुष्य का भाव जिस पदार्थके लिये होता है प्रायः वह पदार्थ प्रयत्न करने पर उसको मिल जाता है। जो मनुष्य मोक्ष की इच्छा रखकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है उसको दस पांच भवमें मोक्ष की प्राप्ति हो ही जाती है। जब प्रयत्न करने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तब फिर संसारी पदार्थों की तो बात ही क्या है? अर्थात् प्रयत्न करने पर संसारी पदार्थ भी प्राप्त हो ही जाते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको सदाकाल मोक्षके लिये ही प्रयत्न करते रहना चाहिये।

आगे भावोंकी दुष्टता और चित्तके विकारोंका कारण बतलाते हैं।

पूर्वसंस्कारतो भावे दुष्टानां संगदोषतः।
दुष्टता विकृतिश्चित्ते दुःखदा जायते नृणाम् ॥११८॥

अर्थ—मनुष्योंके भावोंमें जो दुःख देनेवाली दुष्टता आती है वह पूर्वजन्मके संस्कारों के निमित्त से आती है तथा मनुष्योंके

हृदय में दुःख देनेवाले जो विकार उत्पन्न होते हैं वे दुष्टजीवों के संगति के दोषसे उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—पहले जन्ममें इस मनुष्यके जैसे संस्कार होते हैं अगले भवमें जाकर उसके परिणाम वैसे ही हो जाते हैं। जिसके परिणाम मोक्षमार्ग में लग जाते हैं तथा उन परिणामोंके निमित्तसे जो मोक्षमार्गके लिए प्रयत्न करता रहता है उस संस्कार के निमित्त से वह अगले जन्म में भी मोक्षमार्ग में लगा रहता है तथा जो व्यसनों में वा किसी अन्य कुमार्ग में लग जाता है वह उन संस्कारों के निमित्त से अगले जन्ममें भी कुमार्ग वा व्यसनों में ही लगा रहता है। इससे सिद्ध होता है कि परिणामों के होने से पहले जन्मके संस्कार ही कारण पड़ते हैं। कमठ का जीव व्यसन में पड़ गया था इसलिये उसका वह संस्कार कितने ही जन्म तक बना रहा था तथा उसके भाई का जीव किसी व्यसन में न पड़कर मोक्षमार्ग में लगगया था, इसलिये उसने अंत में जाकर मोक्षकी प्राप्ति कर ही ली थी। यही समझकर भव्यजीवोंको अपने परिणाम और कर्त्तव्य सदा श्रेष्ठ पुण्यरूप कार्यों में वा मोक्षमार्ग में ही लगाना चाहिये। अन्य व्यसन वा कुमार्ग से सदा बचते रहना चाहिये। क्योंकि व्यसन वा कुमार्गमें पड़नेसे दुष्ट पुरुषोंकी ही संगति करनी पड़ती है। तथा दुष्ट पुरुषों की संगति से सदा-काल हृदय में विकार उत्पन्न होते हैं। उन विकारों से पाप उत्पन्न होते हैं और उन पापोंसे नरकादिक दुर्गतियां प्राप्त होती हैं। इसलिये उन नरकादिक दुर्गतियोंसे बचने के लिये दुष्टों की संगति

सर्वथा छोड़ देनी चाहिये । आत्मा के कल्याण का यही सब से उत्तम मार्ग है ।

आगे इस अध्यायका उपसंहार करते हैं ।

तदनुसारतो ग्रंथे वर्णितं ह्यशुभं फलम् ।
कस्यापि निंदनार्थं न न तिरस्कारहेतवे ॥११६॥
सर्वप्राणिहितार्थं हि शुद्धचिद्रूपमूर्तिना ।
धीमता स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा ॥१२०॥

अर्थ—शुद्ध चैतन्यकी मूर्ति, अत्यन्त बुद्धिमान् और अपने आत्मामें संतुष्ट रहनेवाले आचार्य श्री कुंथुसागर स्वामी ने ऊपर कहे हुए कथनके अनुसार अशुभोपयोगका अशुभ फल वर्णन किया है। यह अशुभोपयोगका अशुभ फल न तो किसीकी निंदा करनेके लिए लिखा गया है, और न किसीका तिरस्कार करनेके लिये लिखा गया है । किंतु समस्त प्राणियोंका हित करनेके लिए लिखा गया है ।

भावार्थ—इस ग्रन्थको पठन-पाठन कर वा इसका स्वाध्याय कर भव्यजीव अपने अशुभोपयोगोंका त्याग कर दें और शुभोपयोग धारणकर मोक्षमार्ग में लग जांय इसी हेतुसे यह ग्रन्थ लिखा है ।

इति आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचिते भावत्रयफलप्रदर्शी नाम ग्रंथे अशुभोपयोगफलवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागर विरचित भावत्रयफलप्रदर्शी नाम के ग्रंथकी 'धर्मरत्न' पं. लालाराम शास्त्री विरचित हिंदी भाषा टीकामें अशुभोपयोगके फलको वर्णन करनेवाला यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ।

दूसरा अध्याय

शुभोपयोग का फल ।

सुखप्रदं दुःखहरं किलेष्टं ।
नत्वा मुदा पंचगुरुं यथावत् ॥
शुभोपयोगस्य फलस्वरूपं ।
सर्वात्मशान्त्यै कथयामि भक्त्या ॥१२१॥

अर्थ—अब मैं समस्त जीवों को सुख देनेवाले तथा सबके दुःखोंको दूर करनेवाले अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी को मैं विधिपूर्वक भक्तिके साथ नमस्कार करता हूं। और फिर समस्त जीवोंको शांति प्राप्त कराने के लिए शुभोपयोगके फल का निरूपण करता हूं !

आगे सुपुत्रोंकी प्राप्ति का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च सुपुत्रलाभाः ।**
भवन्ति नृणां वद देव ! लोके ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्य-कार्यके करनेसे इस लोक में मनुष्योंको सुपुत्रोंकी प्राप्ति होती है।

उत्तर—**कुमार्गलग्नान् हि परस्य पुत्रान् ।**
युक्त्या विबोध्यैव पुरा सुमार्गे ॥
सेवादिकार्ये ह्ययुनक् सुसाधो- ।
र्मातुः स भव्यो लभते सुपुत्रान् ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पहले जन्ममें कुमार्गमें चलनेवाले दूसरेके पुत्रोंको युक्तिपूर्वक समझाकर सुमार्गमें लगा देता है तथा सज्जनों की सेवामें वा माता पिता की सेवामें लगा देता है ऐसा भव्यजीव दूसरे जन्ममें जाकर श्रेष्ठपुत्रोंको प्राप्त करता है।

भावार्थ—दूसरों की संतान को सुशिक्षा देना, उनको धर्म मार्गमें लगाना, उनके आत्मा को कल्याणमें लगा देना, पुण्यका कार्य है। जो पुत्र बालकपन में धर्मशिक्षा ग्रहण कर लेते हैं वे फिर धर्ममार्ग से च्युत नहीं होते। यही कारण है कि आचार्यों ने बालकोंके लिये सबसे पहले धर्मशास्त्रों के पढ़ने का आदेश दिया है। जो पुरुष अपने वा दूसरोंके पुत्रोंको सबसे पहले धर्मशिक्षा देता है, उनको कुमार्ग में जानेसे रोकता है और सुमार्ग में लगाता है ऐसे भव्यजीवको आगेके जन्ममें जाकर श्रेष्ठ और सुयोग्य पुत्रों की प्राप्ति होती है।

आगे सुयोग्य और धार्मिक पतिके प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
धर्मानुकूलं लभते पतिं स्त्रीः॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्य कार्य के करनेसे स्त्रियोंको धर्मानुकूल पति प्राप्त होता है।

उत्तर—**दानादिधर्मे सततं निमग्नं।**
पुराभवे या पुरुषं विलोक्य॥
तुष्येद् दयार्द्रा खिल दीननाथं।
श्रेष्ठं पतिं सा लभते गुणज्ञम्॥ १२३॥

अर्थ—जो दयालु स्त्री पहले भवमें देवपूजा पात्रदान आदि धर्मकार्यमें निमग्न रहनेवाले पुरुषोंको देखकर संतुष्ट होती है वह स्त्री अगले जन्ममें अनेक दीनोंकी रक्षा करनेवाले, गुणी और श्रेष्ठ ऐसे उत्तम पतिको प्राप्त होती है।

भावार्थ—जिसके हृदयमें धर्म प्रेम होता है वही जीव धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होता है। धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होना वात्सल्यगुण है और वह सम्यग्दर्शन का एक अङ्ग है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव ही धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न हो सकता है। जो स्त्री ऐसे सम्यग्दर्शन को धारण करती है, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंके दर्शन कर अत्यन्त प्रसन्न होती है जो देवपूजा वा पात्रदान करना अपना कर्त्तव्य समझती है और धर्मकी रक्षा करनेके लिये धर्मात्माओंकी सहायता करती रहती है, उनको देखकर उनके धर्मप्रेम से प्रसन्न होती है ऐसी स्त्री परलोक में जाकर अनेक गुणोंसे सुशोभित धर्मात्मा श्रेष्ठ पति पाती है।

आगे—सुपुत्री प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माच्च पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
लाभः सुतायाः भवति ह्यमुत्र ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकर्मके करनेसे परलोकमें जाकर श्रेष्ठ पुत्री प्राप्त होती है ?

उत्तर—**दानार्चनादौ च सदा निमग्नां।**
पुत्रीं सुशीलां च परस्य दृष्ट्वा ॥
योऽप्रीणयच्छिक्षणदत्तचित्तां।
सीतासमानां लभते स पुत्रीम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—जो पुरुष दान पूजा आदि श्रेष्ठ कार्योंमें तल्लीन रहने वाली, सुशील और पढ़ने लिखने में चित्त लगाने वाली दूसरों की पुत्री को देखकर प्रसन्न होता है वह पुरुष परलोक में जाकर सीता के समान सुपुत्री प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार राजा जनक के सीता पुत्री हुई थी जो सीता अत्यन्त पतिव्रता थी, पतिकी भक्ति करने वाली थी और जिसका नाम आज तक प्रसिद्ध है ऐसी पुत्री भी बड़े भाग्य से उत्पन्न होती है। जो पुत्री इस जन्म में प्रतिदिन भगवान की पूजा करती है, दान देती है, संयम पालन करती है, व्रत उपवास करती है, तथा धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करती रहती है, जो पुत्री कुत्सित नाटक, उपन्यास, काव्य, कथा कहानी आदि की पुस्तकों को कभी नहीं पढ़ती है सदाकाल पुण्यवान् मोक्षगामी महापुरुषों की कथा वा अन्य धर्म शास्त्रों के ग्रन्थ पढ़ती रहती है तथा अन्य अनेक धर्मकार्य किया करती है ऐसी पुत्री भी परलोक में जाकर सीता के समान श्रेष्ठ पुत्री होती है तथा जो पुरुष ऐसी सुपुत्रियों को देखकर प्रसन्न हुआ करते हैं वे पुरुष भी परलोकमें ऐसी सुपुत्रियों को प्राप्त करते हैं।

आगे- श्रेष्ठ पत्नी प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
नर सुभार्यां लभते मनोज्ञाम् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्य के करने से इस मनुष्यको श्रेष्ठ पत्नी प्राप्त होती है।

उत्तर—**कृत्वा पुरा शीलवतिप्रशंसां ।**
दानार्चनादौ सुखदे सुलग्नाम् ॥
दृष्टवा ह्यतुष्यद्विनयान्वितां स्त्रीं ।
श्रेष्ठां स भव्यो लभते सुशीलाम् ॥१२५॥

अर्थ—जो पुरुष पहले जन्म में शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा करके संतुष्ट होता है अथवा दानपूजा आदि सुख देने वाले कार्यों में सदा काल लग्न रहने वाली और अत्यन्त विनयवती स्त्रीको देख कर जो संतुष्ट होता है ऐसे भव्य पुरुष को श्रेष्ठ और सुशील स्त्री प्राप्त होती है ।

भावार्थ—शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा करना उनको देख कर प्रसन्न होना, उनके शीलगुण की प्रशंसा फैलाना, आदि कार्योंके करने से शील पालन करने की दृढता होती है । यहां पर यह भी समझ लेना चाहिये कि जो मनुष्य स्वयं शीलवान होता है, वही पुरुष शीलवती स्त्रियों की प्रशंसा किया करता है, और वही पुरुष धर्मकार्यों में लीन रहने वाली और पतिकी विनय करने वाली पतिव्रता स्त्रियों को देखकर प्रसन्न हुआ करता है जो पुरुष स्वयं शील पालन नहीं करता वह कुशील पुरुष तो कुशीला स्त्रियों को देखकर प्रसन्न होता है, तथा ऐसा कुशीलपुरुष शील-वती स्त्रियों से द्वेष रखता है, कुशीलपुरुष सदाकाल कुशीलको बढाने का प्रयत्न किया करता है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शीलवान् पुरुष ही शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा किया करता है और पालन करने वाली पतिव्रता स्त्रियोंको देखकर प्रसन्न हुआ करता है

और इसप्रकार वह धर्म की प्रभावना किया करता है। ऐसे भव्य पुरुषोंको ही परलोक में जाकर पतिव्रता श्रेष्ठ पत्नी प्राप्त होती है।

आगे—यशस्वी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
सुकीर्तियुक्तो भवतीह जीवः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्य के करनेसे यह जीव इस संसार में यशस्वी होता है।

उत्तर—**तीर्थंकराणां गुणकीर्तनाद्वा।**
सुधार्मिकाणां गुरुसेवया वा॥
सन्मानसत्कारविधेर्विशेषात्।
जीवो यशस्वी भवतीह विश्वे॥१२६॥

अर्थ—जो पुरुष तीर्थंकरों के गुणवर्णन करता रहता है, धर्मात्मा पुरुषों का विशेष आदर सत्कार करता रहता है और वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा किया करता है ऐसा पुरुष इस संसार भरमें यशस्वी हो जाता है।

भावार्थ—संसारमें यशस्वी होना, वा कीर्तिमान् होना, बड़े पुण्यकर्मके उदयसे हुआ करता है। तथा यशस्वी होने योग्य पुण्यकर्म तीर्थंकरपरमदेव के गुणवर्णन करने से, उनकी स्तुति करने से उनकी पूजा करनेसे बन्ध को प्राप्त होता है। इसका भी सर्वोत्कृष्ट हुआ करता है। जहां तीर्थंकर परमदेव जन्म लेते हैं। वहां पर उनके गर्भ में आने से छह महिने पहले ही इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर प्रतिदिन तीनों समय रत्नोंकी वर्षा किया करता है

तथा उसी समयसे देव देवियां आकर माता पिता की सेवा किया करती हैं। जन्म लेते ही इन्द्र अपनी सब विभूतिके साथ आता है और भगवान् को मेरु पर्वतपर लेजाकर क्षीरसमुद्र के जल से उनका अभिषेक करता है। यह कितने बड़े पुण्यकर्मकी महिमा है। जो लौकांतिक देव अपने स्थान से कभी बाहर नहीं आते वे भी तीर्थंकर परमदेव के विरक्त होने पर आकर भगवान् की स्तुति करते हैं। तथा केवलज्ञान के समय स्वयं इन्द्र आकर समवसरण की रचना कराता है तथा प्रातिहार्य आदिकी विभूति प्रगट होती है। यह सब उन तीर्थंकर परमदेव के अपार पुण्यकी महिमा है। ऐसे तीर्थंकर परमदेवकी भक्ति स्तुति करने वाला पुरुष अवश्य ही यशस्वी होता है। इसीप्रकार वीतराग निर्ग्रंथ गुरु भी महातपस्वी होते हैं, इन्द्र आदि देव भी उनकी सेवा किया करते हैं। ऐसे गुरुओं की सेवा करना उनकी स्तुति करना, उनकी वैयावृत्य करना आदि सब कीर्ति फैलानेका कारण है। तथा धर्मात्मा पुरुषों का आदर सत्कार करना, उनकी सेवा भक्ति करना आदि भी यश बढ़ाने वाला है जो पुरुष इन सब कामों को करता है, तथा श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति, धर्मप्रभावना करता है उस पुरुषका यश समस्त संसार में फैल जाता है। तथा तीर्थंकरों के समान उनका यश भी चिरकाल तक बना रहता है।

आगे सुख देने वाले कुटुम्ब की प्राप्तिका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
सुखप्रदं ना लभते कुटुम्बम् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये किस किस पुण्यकार्यके करनेसे इस जीवको सुख देनेवाला कुटुंब प्राप्त होता है ?

उत्तर—**यो यस्य कस्यापि कुटुम्बिनः क्कौ ।**
कृत्वा मिथो वैरविरोधशांतिम् ॥
दत्वा धनादिं सुखिनं च तुष्येत् ।
प्राप्नोति योग्यं सुखदं कुटुम्बम् ॥१२७॥

अर्थ—जो पुरुष किसी भी कुटुम्बके परस्पर होनेवाले वैर विरोध को शान्त कर देता है वा किसी दुःखी कुटुम्बको धनादिक देकर संतुष्ट करता है अथवा किसी सुखी कुटुम्बको देखकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर योग्य और सुख देनेवाले कुटुंबको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—योग्य और सुख देनेवाले कुटुंबके प्राप्त होने से यह जीव सुखी रहता है । यदि संतान वा भाईबन्धु अथवा स्त्री आदि कोई भी अपने कुटुंबमें अयोग्य होता है तो उसके निमित्तसे सब घर वा सब कुटुंब दुखी रहता है । दुखी होनेपर प्रायः धार्मिक क्रियाएं भी छूट जाती हैं । यदि वही कुटम्ब योग्य होता है तो घरभरको सुख मिलता है और सुखी होनेसे धार्मिक क्रियाएं भी विना किसी विघ्नके पूर्ण हो जाती हैं । इसलिये योग्य और सुख देनेवाले कुटुंबका मिलना भी पुण्यकर्मसे प्राप्त होता है । जो पुरुष दूसरोंको योग्य बनाता रहता है, उनके परस्परके वैर विरोधको शान्त करता रहता है, धार्मिक शिक्षा देता रहता है, धर्मात्मा पुरुषों को धन वस्त्र आदि देकर सुखी बनाता है, तथा ऐसे सुखी

धर्मात्माओंको देखकर संतुष्ट होता है और जो धर्मात्मा पुरुषोंकी सब प्रकारसे सहायता करता रहता है, ऐसे पुरुषको परलोक में जाकर अवश्य ही सुयोग्य कुटुंब प्राप्त होता है।

आगे संयमी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
सुसंयमी कौ भवतीह जीवः॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस केस पुण्यकार्य के करनेसे यह जीव इस संसार में आकर संयमको धारण करता है।

उत्तर—**यो वागता देवगतेश्च मातुः।**
पितुः कृता भक्तिवशात्सुसेवा॥
सत्संगतिर्येन शिवप्रदा हि।
स संयमी स्याद्गुणदोषवेदी॥ १२८॥

अर्थ—जो जीव देवगति से आता है, भक्ति पूर्वक माता पिता की सेवा करता है, और मोक्ष देनेवाली धर्मात्मा सज्जनों की संगति करता है ऐसा गुण और दोषों को जानने वाला पुरुष अवश्य ही संयम धारण कर संयमी होता है।

भावार्थ—संयम धारण करना मोक्ष का कारण है, और इसीलिए ऐसा यह संयम बहुत बड़े पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है। पांचों इन्द्रिय और मन को वश करना इन्द्रिय संयम है तथा छहों कायके जीवों की रक्षा करना प्राणिसंयम है। यह संयम सज्जातिमें उत्पन्न होने वाले उत्तम मनुष्यों को ही प्राप्त होता है,

और इसीलिए वह बहुत अधिक पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है, जो जीव पहले जन्ममें भगवान् अरहन्त देवकी भक्ति करते हैं, उन की पूजा करते हैं, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियों को दान देते हैं श्रावक धर्मको पालन कर मुनिव्रत धारण करते हैं और फिर तपश्चरण कर देवगतिको प्राप्त होते हैं ऐसे जीव स्वर्गसे आकर उत्तम मनुष्य संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय मातापिताकी सेवा करना, वीतराग गुरुओंकी सेवा करना, धर्मात्माओंके साथ रहना और सदाकाल धर्मकार्य करते रहना भी देवगति के कारण हैं तथा इस प्रकार देव गति प्राप्त करने वाले जीव भी उत्तम मनुष्य होकर संयम धारण कर लेते हैं।

आगे शोक रहित सुखी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
शोकेन मुक्तश्च सदा सुखी :स्यात् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव शोक रहित सुखी होता है।

उत्तर—**बिम्बप्रतिष्ठां गुरुदेवसेवां ।**
विलोक्य तुष्येज्जिनधर्मवृद्धिम् ॥
धर्मोत्सवं धार्मिकजीवलोकान् ।
स शोकमुक्तश्च सदा सुखी स्यात् ॥१२६॥

अर्थ—जो धर्मात्मा मनुष्य बिम्बप्रतिष्ठा को देखकर प्रसन्न होता है, देव धर्म गुरुकी पूजा भक्ति सेवा आदि को देखकर प्रसन्न होता है जिन धर्म की वृद्धि और अनेक धर्मोत्सवोंको देखकर

प्रसन्न होता है तथा धर्मात्मा लोगों को देखकर प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य परलोकमें जाकर शोकसे रहित होकर सदा काल सुखी रहता है ।

भावार्थ—दुखःशोक आदिकी प्राप्ति पापकर्मके उदय से होती है । तथा पापकर्मोंका नाश धर्मकार्योंकि करनेसे होता है । भगवान् की पूजा करना, देवालय बनवाना, जिनप्रतिमा बनवाना उनकी प्रतिष्ठा करना, वा दूसरोंके द्वारा कराई हुई प्रतिष्ठाओंको देखना, पात्रदान देना, गुरुसेवा करना, जिन धर्म का उपदेश देकर जिन धर्म की वृद्धि करना, अन्यमतों का खंडन कर अपने जिन धर्म की प्रभावना करना, रथोत्सव करना, कराना, देखना, धर्मात्मा पुरुषों को दान देना उनके स्वाध्याय आदि का प्रबन्ध कर देना, स्वाध्यायशाला बनवाना, तीर्थ यात्रा करना आदि सब धर्म कार्य हैं । इनके करने से पापकर्मों का नाश होता है, तथा पुण्यकर्मों की प्राप्ति होती है । इस प्रकार पापकर्मों के नाश हो जाने से यह जीव अगले जन्म में जाकर शोक रहित हो जाता है और उस पुण्यकर्म का उदय होने से सदाकाल सुखी रहता है । यही समझकर भव्य जीवों को सदाकाल अपना समय धर्म-कार्यों में ही व्यतीत करते रहना चाहिए ।

आगे यह जीव अनेक जीवोंका स्वामी किस कारणसे होता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।**
स्वामी भवेन्ना बहुजीवकानाम् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस २ पुण्यकार्य के करने से अनेक जीवों का स्वामी होता है ?

उत्तर—**देवस्य धर्मस्य गुरोश्च सेवां ।**
यो धार्मिकाणां विनयं च कृत्वा ॥
दीनाय दत्त्वैव गृहान्नवस्त्रं ।
तुष्येत्स मृत्वा बहुजीवकर्ता ॥ १३० ॥

अर्थ—जो पुरुष देव शास्त्र गुरु और धर्म की सेवा करके संतुष्ट होता है, अथवा जो धर्मात्मा पुरुषों का आदर सत्कार कर वा उनकी विनयकर संतुष्ट होता है और जो धन हीन धर्मात्माओं को घर अन्न वस्त्र आदि देकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष मरकर अनेक जीवों का स्वामी होता है।

भावार्थ—इस संसार में राजा महाराजा वा बड़े बड़े सेठ लोग ही अनेक जीवों के स्वामी होते हैं और ऐसे महापुरुष श्रेष्ठ पुण्यकर्म से ही होते हैं। इस संसार में सबसे श्रेष्ठ पुण्यकर्म भगवान् जिनेंद्रदेवकी सेवाभक्ति करना है। इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेंद्रदेव सर्वोत्कृष्ट देव हैं, इन्द्रादिक देव भी सदाकाल उनकी सेवा किया करते हैं। यद्यपि वे जिनेंद्रदेव वीतराग हैं तथापि उनके शुद्ध आत्माके प्रभावसे सेवा भक्ति करनेवाले पुरुषके परिणाम भी शुद्ध हो जाते हैं तथा उन शुद्ध परिणामोंके निमित्तसे वह जीव श्रेष्ठ पुण्यकर्मोंका बन्ध कर लेता है और उस पुण्यकर्मके उदय से राजा महाराजा होकर अनेक जीवोंका स्वामी होता है। अथवा जो पुरुष धर्मात्मा पुरुषों को अनेक प्रकार के दान देता है

वह भी परलोक में जाकर अनेक जीवों का स्वामी होता है। यही समझकर प्रत्येक भव्यजीवको प्रतिदिन भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिये और मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका आदि समस्त रत्नत्रय धारण करनेवाले भव्यजीवोंको यथोचित दान देना चाहिए। इस संसारमें पात्रोंको दान देना ही भूरि संपत्तिका कारण है।

आगे नीरोग शरीर प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
नीरोगदेहं लभते मनुष्यः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस मनुष्यको किस किस कारण से नीरोग शरीर प्राप्त होता है।

उत्तर—**सरोगिपात्राय किलौषधान्नं।**
भक्त्या प्रदत्तं विमलासनादि ॥
सरोगिनः साधुजनस्य येन।
सेवा कृता स्यान्स सुखी ह्यरोगी ॥१३१॥

अर्थ—जो मनुष्य मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन चारों प्रकार के रोगी पात्रोंको भक्ति पूर्वक औषध अन्न आदि देता है वा निर्मल पवित्र आसन देता है अथवा जो रोगी मुनियों की सेवा सुश्रूषा करता है वह जीव अगले भव में जाकर नीरोग और सुखी होता है।

भावार्थ—रोगी जीवों को औषधिदान देना उनको नीरोग बनाना है। जो रोगी नीरोग होजाता है वह जन्मभर सुखी रहता है यदि कोई साधु रोगी हो वा अर्जिका, श्रावक रोग युक्त हो तो

उनको औषधि देकर नीरोग करना विशेष पुण्य का कारण होता है। इसका भी कारण यह है कि रत्नत्रयको धारण करने वाला चारों प्रकारका संघ नीरोग होनेपर रत्नत्रयकी वृद्धि करता है और अपने आत्मा का कल्याण करता है। यदि वह रोगी ही बना रहता तो वह रत्नत्रयकी वृद्धि करने से वा आत्म कल्याण करने से वंचित रह जाता है। औषधि प्राप्त हो जानें से वह नीरोग होकर फिर आत्मकल्याणमें लग जाता है। अत एव औषधि देनेवाला भी उस आत्मकल्याणमें सहायक बन जाता है और इस प्रकार वह विशेष पुण्यका भागी होता है। उस विशेष पुण्यसे ही वह अगले जन्ममें नीरोग और सुखी रहता है। इसी प्रकार रोगी मुनियों की या अन्य व्रतियोंकी सेवा सुश्रूषा करना भी उनके आत्मकल्याणमें सहायता देना है। इसीलिए वह भी विशेष पुण्यका भागी होता है और अगले जन्म में वह भी सुखी और नीरोग रहता है। अत एव समर्थ पुरुषों को रोगियों के लिये औषधि देने का प्रबन्ध अवश्य करते रहना चाहिये। तथा साथ में यह भी समझ लेना चाहिये कि वह औषधि शुद्ध और पवित्र हो, मद्य, मांस वा आसव अरिष्ट आदि से बनी न हो। इसका भी कारण यह है कि मद्य वा मांस आदि से बनी हुई औषधि देनेसे अत्यन्त पापका भागी होना पड़ता है, और वह पाप पुण्यको भी पाप रूपमें परिणत कर देता है। अत एव शुद्ध और पवित्र औषधि देना ही सर्वथा उचित और पुण्यका कार्य है।

आगे नीतिमान् और बलवान् होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।**
नीत्या बलिष्ठो भवतीह जीवः ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे नीतिमान् और बलवान होता है ।

उत्तर—**रक्षा कृता येन च दीनजन्तो-**
र्वाऽशक्तजन्तोश्च सुखाय यत्नः ।
क्षुधातृषार्त्ताय जलान्नदानं ।
बलेन नीत्यापि बली भवेत्सः ॥ १३२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दीन दुखी जीवों की रक्षा किया करता है, अथवा असमर्थ जीवों को सुख पहुंचाने का प्रयत्न किया करता है, वा भूखे प्यासे जीवों को अन्न जल देता रहता है, ऐसा जीव परभवमें जाकर शरीरसे भी बलवान् होता है । और नीतिके पालन करने में भी बलवान होता है ।

भावार्थ—इस संसार में छोटे मोटे जितने प्राणी हैं उन सबकी रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है । तथा जो जीव अत्यन्त दीन है वा दुःखी है उसकी रक्षा करना तो प्रत्येक मनुष्य का विशेष और आवश्यक कर्तव्य हो जाता है । इसी प्रकार असमर्थ जीवोंको सुख पहुंचाना वा भूखे जीवोंको शुद्ध जल देना भी पुण्यका कार्य है ! भूखे प्यासे जीवोंको अन्न जल देनेसे धना-दिककी वृद्धि होती है । तथा निर्बलोंकी सहायता करनेसे बलकी प्राप्ति होती है । यही कारण है कि दीन दुःखी जीवों की रक्षा करने से, उनको सुख पहुंचाने से वा अन्न जल का दान देनेसे

उनको औषधि देकर नीरोग करना विशेष पुण्य का कारण होता है। इसका भी कारण यह है कि रत्नत्रयको धारण करने वाला चारों प्रकारका संघ नीरोग होनेपर रत्नत्रयकी वृद्धि करता है और अपने आत्मा का कल्याण करता है। यदि वह रोगी ही बना रहता तो वह रत्नत्रयकी वृद्धि करने से वा आत्म कल्याण करने से वंचित रह जाता है। औषधि प्राप्त हो जाने से वह नीरोग होकर फिर आत्मकल्याणमें लग जाता है। अत एव औषधि देनेवाला भी उस आत्मकल्याणमें सहायक बन जाता है और इस प्रकार वह विशेष पुण्यका भागी होता है। उस विशेष पुण्यसे ही वह अगले जन्ममें नीरोग और सुखी रहता है। इसी प्रकार रोगी मुनियों की या अन्य व्रतियोंकी सेवा सुश्रूषा करना भी उनके आत्मकल्याणमें सहायता देना है। इसीलिए वह भी विशेष पुण्यका भागी होता है और अगले जन्म में वह भी सुखी और नीरोग रहता है। अत एव समर्थ पुरुषों को रोगियों के लिये औषधि देने का प्रबन्ध अवश्य करते रहना चाहिये। तथा साथ में यह भी समझ लेना चाहिये कि वह औषधि शुद्ध और पवित्र हो, मद्य, मांस वा आसव अरिष्ट आदि से बनी न हो। इसका भी कारण यह है कि मद्य वा मांस आदि से बनी हुई औषधि देनेसे अत्यन्त पापका भागी होना पड़ता है, और वह पाप पुण्यको भी पाप रूपमें परिणत कर देता है। अत एव शुद्ध और पवित्र औषधि देना ही सर्वथा उचित और पुण्यका कार्य है।

आगे नीतिमान् और बलवान् होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।**
नीत्या बलिष्ठो भवतीह जीवः ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे नीतिमान् और बलवान होता है ।

उत्तर—**रक्षा कृता येन च दीनजन्तो-**
र्वाऽशक्तजन्तोश्च सुखाय यत्नः ।
क्षुधातृषार्त्ताय जलान्नदानं ।
बलेन नीत्यापि बली भवेत्सः ॥ १३२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दीन दुखी जीवों की रक्षा किया करता है, अथवा असमर्थ जीवों को सुख पहुंचाने का प्रयत्न किया करता है, वा भूखे प्यासे जीवों को अन्न जल देता रहता है, ऐसा जीव परभवमें जाकर शरीरसे भी बलवान् होता है । और नीतिके पालन करने में भी बलवान होता है ।

भावार्थ—इस संसार में छोटे मोटे जितने प्राणी हैं उन सबकी रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है । तथा जो जीव अत्यन्त दीन है वा दुःखी है उसकी रक्षा करना तो प्रत्येक मनुष्य का विशेष और आवश्यक कर्तव्य हो जाता है । इसी प्रकार असमर्थ जीवोंको सुख पहुंचाना वा भूखे जीवोंको शुद्ध जल देना भी पुण्यका कार्य है ! भूखे प्यासे जीवोंको अन्न जल देनेसे धनादिककी वृद्धि होती है । तथा निर्बलोंकी सहायता करनेसे बलकी प्राप्ति होती है । यही कारण है कि दीन दुःखी जीवों की रक्षा करने से, उनको सुख पहुंचाने से वा अन्न जल का दान देनेसे

इस जीव को शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है और नैतिक शक्ति भी प्राप्त होती है।

आगे समताभाव प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
स्याद्देव ! जीवः समतास्वभावो ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य करने से यह जीव समतारूप परिणामों को प्राप्त कर लेता है।

उत्तर—**श्राद्धोत्तमादेर्विनयं च कृत्वा।**
यः शान्तमुद्रां जिनदेवसाधोः ॥
विलोक्य तुष्येत्सुजनात्मधर्मा।
स्यात्कौ स मृत्वा समतास्वभावी ॥१३३॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुष उत्तम श्रावकों की विनय कर संतुष्ट होता है अथवा जिनदेव और वीतराग गुरु की शान्तमुद्रा देखकर प्रसन्न होता है वा सज्जन पुरुषों को देख कर प्रसन्न होता है ऐसा पुरुष मरकर इसी पृथिवीपर समतारूप परिणामोंको धारण करने वाला होता है।

भावार्थ—सुख दुःख दोनोंमें समान परिणाम रखना, सोना मिट्टी दोनोंको समान मानना, इष्टसंयोग वा इष्टवियोग में समान परिणाम धारण करना वा अनिष्टसंयोग वा अनिष्टवियोगमें समान परिणाम धारण करना समता कहलाती है। इस प्रकार समतारूप परिणामोंको धारण करना बड़े पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त

होता है। इसका भी कारण यह है कि जहां पर समतारूप परिणाम होते हैं वहांपर लोभ मोह रागद्वेष आदि सब नष्ट होजाते हैं तथा इन सब विकारोंके नष्ट होने से पापरूप कर्मों का बन्ध नहीं होता है। इसीलिए समतारूप परिणामोंको धारण करना पुण्यकर्म के उदय से होता है और पुण्यकर्मों का ही बन्ध करता है। ऐसा यह समता परिणाम मुनि अर्जिका श्रावक श्राविकाओं की विनय करने से, रत्नत्रय को धारण करने से, देव गुरु की शान्तमुद्रा का दर्शन करने से और रत्नत्रय को धारण करने वालों की संगति करने से ही प्राप्त होता है। यही समझकर रत्नत्रय को धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

आगे—धर्मात्मा होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
सुधार्मिकः को भवतीह जीवः॥

अर्थ—हे देव! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करने से यह जीव धर्मात्मा हो जाता है।

उत्तर—**धर्मोत्सवं धर्मरतान् जनान् यो-।**
दयान्वितान् वा व्रतशीलपूतान्॥
विलोक्य तुष्येत्स्वगुरुं कृपाब्धिं।
स धार्मिको ना प्रभवेदमुत्र॥१३४॥

अर्थ—जो पुरुष किसी धर्मोत्सव को देख कर प्रसन्न होता है, जो अत्यन्त दयालु पुरुषों को देखकर प्रसन्न होता है, वा शील व्रतोंको पालनकर पवित्र होने वाले पुरुषों को देखकर प्रसन्न होता

है, अथवा कृपा के सागर ऐसे वीतराग निर्ग्रंथ परम गुरुको देख कर जो अत्यन्त प्रसन्न होता है ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर भी धर्मात्मा ही होता है।

भावार्थ—जो जीव इस लोकमें रहकर सदाकाल धर्मकार्य करता रहता है वा धर्म में लीन रहता है वह परलोकमें भी जाकर धर्मात्मा ही होता है। धर्म कार्य करने से आत्मा भी धर्मरूप ही हो जाता है और इसीलिए वह अगले जन्ममें भी धर्मात्मा होता है। धर्म की प्रभावना करने वाले अनेक प्रकार के उत्सव देखना अनेक धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होना, दयालु व्रतियोंको देखकर प्रसन्न होना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना, देव गुरुओं के दर्शन कर प्रसन्न होना, उनकी पूजा करना गुरुओं की वैयावृत्य करना। तीर्थयात्रा करना आदि सब धर्मकार्य हैं। इनमें लीन रहने वाला पुरुष अगले जन्ममें भी अवश्य ही धर्मात्मा होता है।

आगे निर्भय होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
सुनिर्भयो चान्यभवे भवेन्ना ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्य के करने से परलोकमें जाकर निर्भय हो जाता है ?

उत्तर—**दीनाय येनान्नजलाभयादि।**
कुभूपदुष्टादिजनैर्हताय ॥

दत्वा कृता दुःखिजनस्य रक्षा ।
स निर्भयो ना प्रभवेदमुत्र ॥ १३५ ॥

अर्थ—जो पुरुष किसी दुष्ट राजा वा अन्य दुष्ट क्रोधी आदि जीवों के द्वारा सताये हुए दीन दुखियोंको अन्न जल अभय आदि देकर उन दुखी जीवों की रक्षा करता है वह मनुष्य परलोक में जाकर अवश्य ही निर्भय होता है।

भावार्थ—किसी भी दुष्ट के द्वारा सताया हुआ मनुष्य सदाकाल भयभीत रहता है। तथा जो भयभीत रहता है वह कभी सुखी नहीं हो सकता। प्रायः दुष्ट लोग वा दुष्ट राजा लोग दीन दुखियों को ही सताया करते हैं। ऐसे दीन दुखियोंको जो आश्वासन दिया करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं, उनको अन्न जल दिया करते हैं वा उनको अपनी शरण में लेकर उनको अभयदान दिया करते हैं, अथवा अपने अपने कर्मके उदयसे दुखी हुए अन्य जीवोंकी भी रक्षा किया करते हैं, उनके दुःख दूर किया करते हैं और उनको सब प्रकार से निर्भय बना देते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें जाकर भी निर्भय होते हैं।

आगे उदार होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्मिन् सुकार्ये हि कृते विशेषे ।**
चित्तं ह्युदारं च भवेन्नराणाम् ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किन किन शुभ कार्यों के करने से मनुष्यों का हृदय उदार हो जाता है?

उत्तर—सत्पात्रदानादनुमोदनाद्वा ।
मिथ्यादृशां वा शिवमार्गदानात् ॥
दत्त्वान्नदानं हृदि हर्षयोगाद् ।
भवेन्नराणां हृदयं ह्युदारम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य वीतराग निर्ग्रंथ मुनियों को आहार दान देता है, वा उसकी अनुमोदना करता है, अथवा जो मिथ्यादृष्टि जीवोंको मोक्ष मार्गमें लगाता है, वा आहारदान देकर अपने हृदयमें हर्ष मानता है, ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर उदार हृदयवाला होता है।

भावार्थ—दान तो अनेक मनुष्य दिया करते हैं परन्तु वीतराग निर्ग्रंथ मुनियों को दान देनेवाले बड़े पुण्यकर्म के उदय से ही होते हैं। इसका भी कारण है कि वीतराग निर्ग्रंथ मुनि न तो कुछ परिग्रह ही रखते हैं और न कभी किसी से किसी भी पदार्थ की याचना करते हैं। रत्नत्रयको वा विशेषकर सम्यक्चारित्र को पूर्णरीतिसे प्राप्त करनेके लिये वे आहार अवश्य लिया करते हैं। सम्यक् चारित्रकी पूर्णता विना शरीरके नहीं हो सकती, तथा विना आहारके शरीर नहीं टिक सकता। अतएव दिन में एक वार वा दो चार दश उपवास करनेके अनन्तर श्रावकों के आहारके समय आहारके लिये मौन धारण कर श्रावकोंकी वस्तीमें जाते हैं, तथा जिस मार्गसे वा जहांतक सर्वसाधारण लोग आते जाते हैं वहीं तक जाते हैं। यदि किसी श्रावकने उनका प्रतिग्रह कर लिया तो उसके यहां आहार ले लेते हैं अन्यथा फिर अपने तपश्चरण के

स्थानपर चले जाते हैं। ऐसी निरीह वृत्तिको धारण करनेवाले मुनियोंको आहार देनेके परिणाम देव शास्त्र गुरुपर अटल श्रद्धान रखनेवाले जीवों के ही होते हैं। तथा ऐसे जीव उस आहार दान की अनुमोदना कर सकते हैं। वा ऐसे आहार दानको देकर प्रसन्न हो सकते हैं। ऐसे मनुष्य अपनी आयु पूर्ण कर भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं वा देव होते हैं तथा वहांसे आकर अत्यन्त उदार हृदय को धारण करने वाले महादानी होते हैं। तथा अंतमें समस्त विभूति का त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण करते हैं और तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

आगे वक्ता होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ना।**
धीमान् भवेद्वान्यभवे सुवक्ता॥

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किन किन पुण्यकार्योंके करनेसे यह जीव परलोकमें जाकर बुद्धिमान् वक्ता होता है।

उत्तर—**विद्याप्रदानं विदुषां च सेवा।**
येन प्रशंसा निजबोधकर्तुः॥
विद्यार्थिने वा जिनशास्त्रदानं।
कृतं स वक्तान्यभवे भवेद्धि॥ १३७॥

अर्थ—जो मनुष्य इस जन्ममें अनेक विद्यार्थियों को विद्या-दान देता है, जो विद्वानों की सेवा करता है, अपने आत्मा को

आत्मज्ञान करानेवाले गुरुओंकी प्रशंसा करता है, और जो विद्यार्थियोंको पढ़नेके लिए जैन शास्त्रोंको देता है ऐसा पुरुष परलोकमें जाकर यथार्थ बोलनेवाला वक्ता होता है।

भावार्थ—विद्या का दान देनेसे आत्मा में विद्याका संस्कार होता है, जो पुरुष स्वयं विद्याका दान नहीं दे सकता उसको विद्याके पढ़नेमें सहायता देनी चाहिये। तीव्रबुद्धि विद्यार्थियों के लिए पढ़नेके सब साधन इकट्ठे कर देने चाहिये। तथा विद्वानों की सेवा करते रहना चाहिये। अपने गुरु की प्रशंसा करते रहना चाहिये। शास्त्रोंको लिखा लिखाकर दान देना चाहिये। तथा यह ध्यानमें रखना चाहिये कि आत्मकल्याणकारी शास्त्रों का पठन पाठन करना ही विद्याध्ययन करना है। अन्य शास्त्रों के पठन पाठन करने से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये जो पुरुष आत्मकल्याणकारी शास्त्रों के पठन पाठन में सहायता पहुंचाता है, विद्वानों की सेवा सुश्रूषा करता है, वा शास्त्रोंको पढ़ाता सुनाता है वह पुरुष परलोकमें जाकर अवश्य ही उत्तम वक्ता होता है।

आगे स्वतन्त्र होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्मिन् सुपुण्ये च कृते विशेषे।**
जीवः स्वतन्त्रोपि सुखी भवेत्कौ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करनेसे यह जीव स्वतन्त्र और सुखी होता है।

उत्तर—**कुटुम्बहीनाय तदात्मशान्त्यै।**
बोधं धनादिं सुखदं च दत्वा॥

वस्त्रान्नहीनाय तदेव तुष्ये-
जीवः स्वतंत्रः स भवेदमुत्र ॥ १३८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य कुटुम्बरहित मनुष्यों की आत्माओं को शांत करनेके लिये उनको समझाता है, उनके लिये सुख के साधन धन धान्य आदि पदार्थों को देता है तथा अन्न वस्त्ररहित मनुष्यों को अन्न वस्त्र देकर अत्यन्त संतुष्ट होता है ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर अवश्य ही स्वतन्त्र और सुखी होता है।

भावार्थ—आश्रयहीन जीवों को आश्रय देना, दुखी जीवों का दुःख दूर कर उनको सुख पहुंचाना, भूखे प्यासों को अन्न जल देना, वस्त्र रहित संसारी जीवों को वस्त्र देना, मिथ्या ज्ञानियोंको सम्यग्ज्ञान प्रदान करना, अधर्म में लगे हुए जीवों को धर्म में लगाना, वा और भी ऐसे ही ऐसे कार्य करना, पुण्य वढ़ाने वाले कार्य हैं, तथा ऐसे ही पुण्यकार्य करने से यह जीव परलोक में जाकर किसी के आधीन नहीं रहता, स्वतन्त्र होकर सुखी होता है तथा अंतमें समस्त कर्मों को नष्ट कर परम स्वतन्त्र सिद्ध परमेष्ठी वन जाता है।

आगे सुंदर शरीर की प्राप्ति का कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
ना सुन्दरांगो भवतीह मृत्वा ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह वतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्य के करने से परलोक में जाकर सुंदर शरीर धारण करता है?

उत्तर—**स्यात्सर्वजीवः शुभदेहधारी ।**
येषां सदिच्छा गुरुदेवभक्तिः ॥
दृष्ट्वान्यदेहं भुवि रोगहीनं ।
तुष्येत्स मृत्वा भुवि सुन्दरांगः ॥ १३६ ॥

भावार्थ—इस संसार में समस्त जीव सुंदर शरीरको धारण करने वाले हों ऐसी श्रेष्ठ इच्छा जिनको सदाकाल बनी रहती है तथा जो सदाकाल भगवंत की भक्ति किया करते हैं वा वीतराग साधुओं की भक्ति किया करते हैं और जो दूसरों के नीरोग शरीर को देखकर संतुष्ट हुआ करते हैं ऐसे मनुष्य मरकर परलोक में भी उत्तम सुंदर शरीर को धारण करते हैं ।

भावार्थ—उत्तम और सुंदर शरीर का प्राप्त होना भी बड़े भारी पुण्यकर्म के उदय से होता है । जो पुरुष भगवंत की भक्ति किया करता है, उनकी पूजा किया करता है, उनका ध्यान किया करता है तथा उनके कहे हुए शास्त्रों की आज्ञानुसार अपनी प्रवृत्ति रखता है, वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी भक्ति करता है, उनकी सेवा सुश्रूषा करता है, तथा जो पुरुष सदाकाल समस्त जीवों के सुखी होने की भावना रखता है ऐसा जीव श्रेष्ठ पुण्य-कर्म के उदय से परलोक में जाकर सुन्दर वा मनोहर शरीर को धारण करता है ।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।**
सन्माननीयोऽन्यभवेज्जनोऽयम् ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपा कर यह बतलाइये कि, यह

मनुष्य किस किस पुण्यकार्य के करनेसे दूसरे जन्ममें भी जाकर मान्य वा आदर सत्कार करने योग्य होता है ?

उत्तर—**येनात्मभक्त्या गुरुदेवसेवा ।**
स्नेहप्रवृत्तिश्च मिथः कृता हि ॥
तद्वाक् प्रमाणं मनसा कृतं वै ।
सन्माननीयोऽन्यभवे भवेत्सः ॥ १४० ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्मभक्ति से भगवन्त की सेवा करता है, वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करता है, तथा उन्हीं देवशास्त्र गुरुओंके वचनोंको मन वचन कायसे प्रमाण मानता है और जो समस्त जीवोंमें परस्पर प्रेममय प्रवृत्ति रखता है ऐसा पुरुष परलोक में भी जाकर श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा माननीय पुरुष होता है ।

भावार्थ—सज्जन पुरुष भी जिसको माने, जिसका विनय करे उसको माननीय कहते हैं । जो पुरुष पूज्य पुरुषों की पूजा किया करता है, पूज्य पुरुषों की सेवा किया करता है, वीतराग सर्वज्ञ देवके बचनोंको प्रमाण मानकर उन्हींके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है । जो देव शास्त्र गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करता और न कभी किसी को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है । अथवा जो पुरुष परस्पर वैर विरोध कराने का भी कभी प्रयत्न नहीं करता, जो सदाकाल सबके साथ अनुरागरूप प्रवृत्ति रखता है । ऐसा पुरुष मरकर परलोक में भी वैभवशाली माननीय पुरुष होता है, जिसे सब लोग मानते हैं, सब लोग जिसका विश्वास करते हैं और सब लोग जिसको बड़ा मानते हैं ।

आगे ज्ञानी व्रती होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
ज्ञानी व्रती स्यान्मनुजोऽन्यलोके॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करने से यह जीव परलोकमें भी जाकर ज्ञानी और व्रती मनुष्य होता है।

उत्तर—**येन क्रियायुक्तनरप्रशंसाऽ-**
नाचारवृत्तेश्च कृता प्रणिन्दा।
फलं व्यथादं व्यसनस्य बुध्वा!
ज्ञानी व्रती स्यादिति भाग्यभाक् सः ॥१४१॥

अर्थ—जो पुरुष सातों व्यसनों को अत्यन्त दुःख देने वाले समझकर अनाचार प्रवृत्तियों की निंदा किया करता है, और व्रत उपवास, पात्रदान आदि करनेवाले क्रियायुक्त पुरुषों की प्रशंसा किया करता है ऐसा भाग्यशाली पुरुष परलोक में भी जाकर ज्ञानी और व्रती पुरुष होता है।

भावार्थ—जुआ, चोरी, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन, मांस, मद्यसेवन आदि सब व्यसन कहलाते हैं। ये व्यसन सब दुःख देनेवाले हैं। इन व्यसनों के सेवन करनेसे इस लोक में भी दुःख मिलता है और परलोकमें भी नरकादिकके दुःख भोगने पड़ते हैं। यही समझकर जो पुरुष इन समस्त व्यसनोंका त्याग कर देता है तथा अपनी अनाचार रूप प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर देता है और जो सदाकाल शास्त्रोक्त क्रियाकांडका पालन

किया करता है, अर्थात् जो प्रतिदिन भगवन्तकी पूजा किया करता है, मुनियोंको दान दिया करता है, व्रत उपवास किया करता है, पर्व के दिनोंमें विशेष उत्सव किया करता है, रथोत्सव आदिके द्वारा धर्म की प्रभावना किया करता है शास्त्रोंका स्वाध्याय किया करता है और जो सदा काल धर्मात्मा पुरुषों की सेवा किया करता है ऐसा पुरुष परलोक में भी जाकर ज्ञानी और व्रती पुरुष होता है, तथा भाग्यशाली होता है।

आगे—भाई बन्धुओं में प्रेम होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
प्रीतिर्भवेद् बन्धुजने मिथः कौ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्य कार्य के करने से यह जीव अपने भाई बन्धुओं का प्रेमपात्र बन जाता है।

उत्तर—**श्रीदां सुशान्तिं भुवि कारयित्वा।**
बन्धोर्मिथः स्नेहकरीं प्रवृत्तिम् ॥
विलोक्य तुष्येत्प्रियबांधवानां।
स्नेहो मिथः स्यादिति तस्य कृत्यात् ॥१४२॥

अर्थ—जो पुरुष इस संसार में लक्ष्मीको बढानेवाली शांति स्थापन कर देता है, जो भाई भाइयों में परस्पर स्नेह बढाने वाली प्रवृत्ति को बढाता रहता है, और जो परस्पर प्रेम से रहनेवाले भाई बन्धुओंको देखकर संतुष्ट हुआ करता है ऐसा पुरुष अपने इन श्रेष्ठ कार्योंसे अपने भाई बंधुओंमें परस्पर स्नेहको धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—भाई बन्धुओंमें परस्पर प्रेमके साथ रहना सौभाग्य की बात है। यह सौभाग्य उसीको प्राप्त होता है जो पहले जन्म में किसीके लिये कभी कोई उपद्रव नहीं करता। जो सबके साथ शांतिका वर्ताव रखता है, अन्य लोगोंमें भी शांति स्थापन कराता है, भाई भाइयोंमें प्रेम कराता है, धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होता है, धर्मात्माओं की सेवा करता है और धर्मात्माओं के अनुराग से प्रसन्नता प्रगट करता है। ऐसा पुरुष परलोकमें भी जाकर सबका प्रेम मात्र होता है और सबके साथ प्रेमसे रहता है।

आगे—बिछुडे हुए पुत्रकी प्राप्तिका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
वियोगिपुत्रस्य भवेत्सुलाभः ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करने से पुत्र का वियोग होने पर भी परदेश चले जाने पर भी उसकी प्राप्ति हो जाती है?

उत्तर—**दत्ता धृतिः पुत्रवियोगिने यैं-**
स्तत्पुत्रलाभाय कृतः प्रयत्नः ॥
संयोगवार्ता हि कृता न चान्या-
ऽस्माद् योग्यकृत्यादिति पुत्रलाभः ॥१४३॥

अर्थ—किसी भी पुरुष के पुत्र का वियोग होनेपर अर्थात् किसी भी कारण से उसके बाहर वा परदेश चले जाने पर जो उसके लिये धैर्य बँधाता है, उसकी खोज करनेके लिये प्रयत्न करता है और जो सदाकाल उसके मिल जाने की ही बात कहता है,

उसके विपरीत बात कभी नहीं कहता ऐसा पुरुष अपने इन योग्य कार्य करनेके कारण अपने विछुड़े हुये पुत्रको भी प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—कभी कभी किसी का पुत्र अप्रसन्न होकर घरसे निकल जाता है, परदेश चला जाता है, अथवा उसे कोई बहका-कर ले जाता है वा चुराकर ले जाता है, अथवा साथ से छूट जाता है अथवा और किसी प्रकार से विछुड़ जाता है। ऐसी अवस्थामें उसके माता–पिता वा भाई–बन्धुओंको धैर्य देना चाहिये, उसकी खोज करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए, यदि वह पुत्र मिल जानेपर भी न आता हो तो उसको समझा बुझाकर ले आना चाहिए और इस प्रकार उसके माता–पिता वा भाई–बन्धुओं को संतुष्ट करना चाहिये जो मनुष्य इस प्रकारका प्रयत्न करते हैं ऐसे पुरुषोंके पुत्रादिकोंका वा भाई-बन्धुओंका वियोग कभी होता ही नहीं है। यदि किसी कारणसे हो भी जाय तो वह विछुड़ा हुआ भाई वा पुत्र अपने आप आजाता है। ऐसे पुरुषों को इष्ट वियोग का दुःख कभी नहीं होता है।

आगे–पिता-पुत्रके स्नेहका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्यात्।**
स्नेहः सुपुत्रस्य मिथः पितुश्च ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करने से पिता पुत्र में परस्पर स्नेह रहता है।

उत्तर—**पितुः सुपुत्रस्य मिथः प्रमोदं ।**
दृष्ट्वेति तुष्येद्विनयोपचारम् ॥

विनाश्य वैरं ह्यकरोत्प्रशान्ति ।
स्नेहो द्वयोः स्यात्सुकृतेः प्रतापात् ॥१४४॥

अर्थ—जो पुरुष पिता-पुत्र के परस्पर के प्रमोदको देखकर संतुष्ट होता है, उनके विनय और उपचारको देखकर प्रसन्न होता है, अथवा किसी पिता पुत्रके परस्पर के विरोधको मिटाकर जो शांति स्थापन कर देता है ऐसा पुरुष अपने पुण्यकार्यों के प्रतापसे पितापुत्र दोनोंके साथ प्रेम धारण करता है।

भावार्थ—पिता-पुत्र दोनों के साथ अनुराग पूर्वक वर्ताव रखना, पिताकी सेवा सुश्रूषा करना उनकी आज्ञाका पालन करना, अपने कर्तव्य का पालन कर पिताको प्रसन्न रखना तथा पुत्रका लालन पालन करना, उसको अनुचित कार्यों से रोकना पढाना, लिखाना, व्यापार आदि सिखाना तथा उसको धार्मिक वनाना आदि समस्त क्रियाएं कुटुम्बके सुखके साधन हैं। जो घरका स्वामी अपने कुटुम्बके साथ इस प्रकार का वर्ताव रखता है वह स्वामी तथा उसका वह कुटुंव सदाकाल सुखी रहता है। ऐसा सुख बड़े भाग्यसे मिलता है। जो जीव पहले जन्ममें कौटुम्बिक प्रेमको देखकर प्रसन्न होता है, किसी भी कुटुंब में वैर विरोध नहीं होने देता, होने पर बहुत शीघ्र उसे मिटा देता है, और जो सेवा, सुश्रूषा, परोपकार आदिके द्वारा सवका प्रिय भाजन वना रहता है ऐसा जीव मरकर परलोक में भी अपने समस्त कुटुंव के साथ प्रेम भावसे रहता है।

आगे—गर्भमें सुपुत्र आनेके चिन्ह वतलाते हैं।

प्रश्न—कथं सुपुत्रस्य स्थितिः प्रगम्या ।
कृत्वा कृपां मे वद मातृगर्भे ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि माताके गर्भमें सुपुत्रके आनेपर क्या क्या चिन्ह प्रगट हो जाते हैं।

उत्तर—**गर्भे सुपुत्रागमनात्प्रसादः।**
मातुः पितुर्वा विमलो विचारः॥
दानार्चनादौ च सदा प्रवृत्तिः।
ज्ञेयं सुकृत्याद्धि सुपुत्रजन्म॥ १४८॥

अर्थ—यदि माताके गर्भमें कोई सुपुत्र आजाता है तो माता पिताका हृदय प्रसन्न हो जाता है, उनके विचार निर्मल हो जाते हैं और दान, पूजा आदि शुभकार्योंमें प्रवृत्ति हो जाती है। यदि ये सब कार्य होने लगें तो समझ लेना चाहिए कि इस गर्भसे सुपुत्रका जन्म होगा।

भावार्थ—माताके गर्भमें जैसा पुत्र होता है माता-पिताके विचार भी वैसे ही हो जाते हैं। यदि वह बालक शूर-वीर होता है तो माता-पिताके विचार किसी भी युद्धमें विजय प्राप्त करनेके परिणाम होजाते हैं। यदि वह गर्भका बालक धर्मात्मा होता है तो माता-पिताके विचार धर्मरूप परिणत होजाते हैं। परोपकार पात्रदान तीर्थयात्रा आदि करनेके विचार होजाते हैं, धर्मोत्सव वा रथोत्सव आदिके करने कराने वा देखनेके भाव होजाते हैं। ऐसे परिणामोंसे उस गर्भके बालकका सुपुत्रपना जान लिया जाता है।

आगे—इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्तिका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पुण्योदयाद्वांछितदं सुवस्तु।**
कस्मात्प्रभो ! मे लभते वदात्मा॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्य कर्मके उदयसे इस जीवको इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

उत्तर—**भव्याय संघाय चतुर्विधाय !**
येन प्रदत्तं विमलौपधान्नम् ॥
सर्वात्मसौख्याय कृताभिलाषा ।
दिव्यं नरः कौ लभते सुवस्तु ॥ १४६ ॥

अर्थ—जो पुरुष भव्य पुरुषोंके लिये वा मुनि,अर्जिका,श्रावक श्राविका इन चारों प्रकारके संघके लिये पवित्र औषधि वा पवित्र आहार जल प्रदान करता है अथवा जो समस्त जीवोंको सुखी बनानेकी अभिलाषा करता रहता है ऐसा पुरुष इसी संसारमें इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—पात्रदान देनेसे धन धान्यकी वृद्धि होती है, जो पुरुष प्रतिदिन पात्रदान देता है, वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको आहार देता है वा औषध वा शास्त्र देता है वा मुनियोंके लिये वसतिकाएं बनवा देता है ऐसा पुरुष मरकर भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है। वहांपर उसे कल्पवृक्षोंके द्वारा इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होती रहती है। तदनंतर वहांकी आयु पूर्णकर वह देव होता है और वहां भी इच्छानुसार भोगोपभोगों की सामग्री प्राप्त कर सुखका अनुभव करता रहता है। इसलिए यदि इच्छानुसार सुख सामग्री प्राप्त करना है तो प्रत्येक भव्य जीवको पात्रदान देनेका नियम लेना चाहिये यदि ऐसा योग अपने यहां न हो तो जहां कहीं वीतराग निर्ग्रंथ मुनि हों वहां जाकर पात्रदान का लाभ लेना

चाहिये। इसमें चूकना मनुष्य जन्म को खो देना है।

आगे—देव पर्याय प्राप्त होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद ! प्रभो मे।**
स्वर्गे च जीवो भवतीह देवः॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्य कार्यके करनेसे यह जीव स्वर्गमें जाकर देव होता है।

उत्तर—**व्रतोपवासेन तपोजपाभ्यां।**
देवादिसेवाकरणेन भक्त्या॥
सत्तीर्थयात्रार्चनदानतः स्यात्।
शुभोपयोगैर्दिविजो भवेत्सः॥ १४७॥

अर्थ—जो मनुष्य अनेक व्रत उपवास करता है, तपश्चरण करता है जप वा ध्यान करता है, भक्ति पूर्वक देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा पूजा करता है, तीर्थयात्रा करता है, प्रतिदिन देवपूजा करता है और प्रतिदिन पात्रदान देता है वह भव्य मनुष्य अपने अनेक पुण्यकार्योंसे स्वर्ग में जाकर देव होता है।

भावार्थ—देवपर्याय इस संसार में सुखमय पर्याय है। वहां पर जन्म लेते ही थोड़ी देर में युवावस्था को प्राप्त हो जाता है। उसके साथ ही अवधि ज्ञान होता है वहांपर कल्पवृक्ष होते हैं। जो इच्छानुसार समस्त सामग्री देते हैं। अनेक वर्षोंवाद भूख की इच्छा होती है और उसी समय उनके गले से अमृत झर पड़ता है जिससे वे परम तृप्त हो जाते हैं। देवों को कभी बुढ़ापा नहीं आता और न कभी कोई दुःख ही होता है। ऐसी

यह देवों की सुखमय पर्याय तपश्चरण वा ध्यान करने से प्राप्त होती है अथवा पूर्ण अणुव्रत वा महाव्रत धारण करने से होती है, वा समता पूर्वक अनेक उपवास करने से प्राप्त होती है। अथवा मुनिराज आचार्य समन्तभद्र के समान भगवान् भगवत की भक्ति करने से प्राप्त होती है। इस प्रकार अनेक पाप कर्मों को नष्ट कर महापुण्य कार्यों के करने से यह देवपर्याय प्राप्त होती हैं।

आगे–मनुष्य पर्याय प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्मिन् सुकार्ये च कृते विशेषे।**
मृत्वा भवेन्ना नरजन्मधारी ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस विशेष पुण्यकार्य के करने से यह जीव मनुष्य पर्याय को धारण करता है?

उत्तर—**दानार्चनादार्जवधर्मयोगात् ।**
क्रोधादिनाशात्समतारसाद्वा ॥
मृत्वा मनुष्यो भवतीह विश्वे ।
प्रियश्च सर्वस्य सुखप्रदो हि ॥ १४८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा दान देता रहता है, भगवन् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता रहता है, अपने परिणामोंको छल कपट से रहित सरल बनाये रखता है और जो क्रोध को नाशकर समतारस में लीन रहता है, ऐसा मनुष्य मरकर इसी रसमें सब को प्रिय और सबको सुख देनेवाला उत्तम मनुष्य होता है।

भावार्थ—स्वाभाविक कोमल परिणामोंका होना मनुष्य-

पर्याय का कारण है। जिसके परिणाम स्वभावसे ही कोमल वा सरल होते हैं वह क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों से दूर रहता है, तथा कषायों से दूर रहने के कारण समतापरिणामों को धारण करता है, और समता धारण करने से दान, पूजा, जप, तप आदि आत्मा के कल्याण करने वाले कार्यों में ही लगा रहता है। इन सब पुण्य कार्यों के करनेसे वह फिर उत्तम मनुष्य होता है अथवा देवपर्यायका सुख भोग कर उत्तम मनुष्य होता है और फिर ध्यान तपश्चरण के द्वारा कर्मों को नष्ट कर मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

आगे—भोगभूमिमें मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
ना जन्म गृह्णाति सुभोगभूम्याम् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह मनुष्य भोगभूमिमें उत्तम मनुष्य होता है ?

उत्तर—**स्वसौख्यभोक्त्रे मुनयेऽन्नदानं।**
दत्तं प्रदातुं च कृताभिलाषः ॥
येन प्रशंसा मुनिदानदातुः ।
स जायते चेति सुभोगभूम्याम् ॥ १४६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने आत्मसुख में लीन रहने वाले मुनियों के लिये आहारदान देता है वा देने के लिये अभिलाषा करता है अथवा जो देनेवालों की प्रशंसा करता है वह मनुष्य आयु पूर्ण होने पर भोगभूमि में उत्पन्न होता है।

भावार्थ—रत्नत्रय को पालन करने वाले वा अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहने वाले मुनि मोक्षके साक्षात् पात्र हैं। ऐसे मुनि उत्तमपात्र कहलाते हैं। ऐसे मुनियों को जो आहार दान देता है वह उन मुनियोंकी मोक्ष प्राप्तिमें सहायक होता है और स्वयं मोक्ष पहुंचने के लिये पूरा साधन बना लेता है। ऐसा मनुष्य आयु के पूर्ण होते ही भोगभूमिमें मनुष्य पर्याय धारण कर उत्पन्न होता है। तथा वहां से स्वर्गमें देव होता है और फिर एक दो मनुष्य पर्याय धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। तथा जो मनुष्य शीलव्रत पालन करनेवाले श्रावक श्राविकाओंको अहार दान देता है वा ऐलक, क्षुल्लक, अर्जिका, क्षुल्लिका आदिको आहार वस्त्र आदि देता है वह मध्यम भोगभूमि में मनुष्य पर्याय धारण कर उत्पन्न होता है। और जो अव्रती सम्यग्दृष्टियों को आहार वस्त्र आदि यथायोग्य दान देता है वह जघन्य भोगभूमिमें मनुष्य होता है। इसी प्रकार मिथ्या तपश्चरण करने वाले साधुओं को जो दान देता है वह कुभोग-भूमि में उत्पन्न होता है। तथा अपात्रों को दान देना व्यर्थ समझा जाता है। जो पुरुष दान देने की इच्छा करता है वा दान की अनु-मोदना करता है वा दान देने वाले की प्रशंसा करता है वह भी उसी फलको प्राप्त होता है।

आगे—आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
शुभार्यखंडे हि भवेन्नृजन्म ॥

अर्थ- हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव आर्यखंडमें मनुष्यजन्म धारण करता है।

उत्तर—**जनान् कुवासे वसतः प्रगृह्य ।**
योऽस्थापयत्सौख्यकरे सुवासे ॥
दत्वान्नवस्त्रं सुखदं प्रतुष्येत् ।
स्यादार्यखण्डे खलु तन्नृजन्म ॥ १५० ॥

अर्थ—अत्यन्त निकृष्ट स्थानोंमें निवास करने वाले अनेक जीवोंको उठाकर जो सुख देनेवाले उत्तम स्थानों में बसा देता है और फिर उनको सुख देनेवाले अन्न वस्त्र देकर संतुष्ट होता है वह मनुष्य मरकर आर्यखण्ड में उत्तम मनुष्य होता है।

भावार्थ—आर्यखण्ड एक उत्तम स्थान है। उसमें मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति रहती है। उसमें तीर्थंकर वा अनेक मुनिराज विहार करते रहते हैं। अनेक अर्जिकाएं वा श्रावक श्राविकाएं रत्नत्रय का पालन करती रहती हैं। यही सब आर्यखण्ड की विशेषता है। ऐसे धर्मस्थान में जन्म लेना वास्तव में पुण्य का ही कार्य है और पुण्यका ही साधन है। जो मनुष्य निकृष्ट स्थानोंमें बसे हुए लोगों का उद्धार करते हैं उन्हें अच्छे स्थानों में बसाते हैं ऐसे मनुष्य मरकर आर्यखण्ड में जन्म लेते हैं तथा वहां पर धर्म साधन कर यथासाध्य रत्नत्रय का पालन करते हैं और ध्यान तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

आगे—अल्पभोजी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।**
स्वल्पान्नभोजी भवतीह भव्यः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह वतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करने से यह जीव बहुत थोड़ा अन्न भक्षण करने वाला होता है।

उत्तर—**स्वराज्यकर्त्रे मुनयेऽन्नदानं ।**
दत्वेति दीनाय गृहादिवस्तु ॥
स्वल्पं च भुक्त्वाऽनशनेन तुष्येत् ।
स्वल्पान्नभोजी स भवेदमुत्र ॥ १५१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहने वाले मुनियोंको आहारदान देकर संतुष्ट होता है वा दीनदरिद्रियों को अन्न, वस्त्र, घर आदि देकर संतुष्ट होता है। अथवा जो थोड़ा सा ही भोजन कर संतुष्ट होता है। ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर अल्प भोजन करने वाला होता है।

भावार्थ—बहुत अधिक भोजन करना दरिद्रता का चिन्ह है और थोड़ा भोजन करना भाग्यशाली होनेका चिन्ह है। सबसे थोड़ा भोजन देवपर्यायमें होता है। वहांपर सैंकड़ों हजारों वर्षों के वीत जानेपर क्षुधाकी वेदना होती है और उसी समय उनके गले से अमृत झर पड़ता है जिससे उनकी तृप्ति हो जाती है। इसी प्रकार भोगभूमि में भी बहुत थोड़ा आहार है। उत्तम भोगभूमिमें तीन दिन वाद आंवलेके समान थोड़ा आहार लेते हैं। मध्यम भोगभूमिमें दो दिन वाद और जघन्य भूमिमें एक दिन वाद कुछ अधिक आहार लेते हैं। कर्मभूमिमें चौथे कालमें प्रति दिन एक वार आहार लेते हैं। पांचवें कालमें प्रतिदिन दो वार आहार लेते

हैं और छठे कालमें प्रतिदिन कई वार आहार लेते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि पुण्यवान् मनुष्य कम आहार लेते हैं। जो मनुष्य दान देते रहते हैं तथा जो विशेष कर मुनियों को दान देते हैं वा अनेक व्रत उपवास करते हैं तथा जो सुख दुःख दोनों में संतोष धारण करते हैं ऐसे मनुष्य अपनी आयु पूर्ण होने पर परलोक में बहुत थोड़ा अन्न ग्रहण करने वाले उत्तम पुरुष होते हैं।

आगे—व्यवहारचतुर होने का कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
भवेच्च भव्यो व्यवहारदक्षः ॥

अर्थ—हे भगवन्! अव कृपाकर यह वतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करने से यह मनुष्य अपने व्यवहारकार्यों में चतुर होता है?

उत्तर—**विद्याकलादौ चतुरान् विलोक्य।**
विवेकिनो ज्ञानिजनस्य शंसाम् ॥
कृत्वेति तुष्येन्मुनिवर्गसेवां।
भवेत्स मृत्वा व्यवहारदक्षः ॥ १८२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य विद्या कला आदि में चतुर मनुष्यों को देखकर संतुष्ट होता है वा विवेकी और ज्ञानी पुरुषों की प्रशंसा किया करता है, अथवा जो मुनियों की सेवा किया करता है ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर व्यवहार के सव कार्योंमें निपुण होता है।

भावार्थ—व्यवहारचतुर होना बुद्धिमानी का काम है। जो मनुष्य बुद्धिमानोंको वा कलाकारोंको देखकर प्रसन्न होता है, ज्ञानी

और विचार शील मनुष्यों को देखकर प्रसन्न होता है वा उनकी प्रशंसा करता है अथवा जो मुनियों की सेवा करता रहता है, संघ की सेवा करता रहता है, धर्म को धारण करता रहता है वा व्रत उपवास करता रहता है ऐसा मनुष्य परलोक में जाकर व्यवहार के समस्त कार्यों में चतुर होता है, वह अपने व्यवहारमें कभी नहीं चूकता।

आगे—कवि होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
सुकाव्यकर्ता हि भवेत् कविः कौ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाईये कि यह मनुष्य किस किस पुण्यकार्यके करने से उत्तम काव्यको करने वाला श्रेष्ठकवि होता है?

उत्तर—**निर्दोषदेवादिकथाप्रशंसा।**
सुकाव्यकर्तृगुणकीर्तनादिः॥
परंपराधर्मगुरोः कृता यै—
भवन्ति मृत्वा कवयोवरास्ते॥ १५३॥

अर्थ—जो मनुष्य वीतराग सर्वज्ञदेव की कथा कहता है, उनकी स्तुति किया करता है, उनके चरित्रों को कहने वाले उत्तम कवियोंके गुण वर्णन किया करता है वा उनकी प्रशंसा किया करता है, अथवा परम्परा से चले आये धर्म गुरुओं के गुण वर्णन किया करता है वह जीव परलोक में जाकर उत्तम कवि होता है।

भावार्थ—उत्तम कवि वही कहलाता है जो धर्मकथाओंको निरू-

पण करता है, जो तीर्थंकर परमदेवके पवित्र चारित्रको अपने काव्य के द्वारा निरूपण करता है, अथवा अन्य मोक्षगामी पुरुषोंके पवित्र चारित्रको अपने उत्तम काव्यके द्वारा निरूपण करता रहता है। अथवा पुण्यपापका फल दिखलानेके लिये तथा पापका त्याग कराने के लिए वा पुण्य की वृद्धि करनेके लिए अन्य पुरुषों की कथाएं भी कहता है। ऐसे उत्तम विचारवाले कवियोंको उत्तमकवि कहते हैं। जो पुरुष देवपूजा, गुरुपूजा, शास्त्रपूजा किया करते हैं वा उनकी कथाओंको कहकर अपने आत्माको पवित्र किया करते हैं वा जिन-सेन, समन्तभद्र आदि उत्तम कवियों की प्रशंसा किया करते हैं वा उनकी कथाओंको कहकर लोगों को सुनाया करते हैं, वा धर्म-गुरुओंकी कथाओंको सुनाया करते हैं ऐसे पुरुष परलोक में जाकर सर्वोत्तम कवि होते हैं तथा आचार्य जिनसेन आदि उत्तम कवि-यों के समान परमपूज्य पुरुषोंके पवित्र चारित्रका निरूपण करते हुये अपने आत्मा का कल्याण करते रहते हैं। ऐसे महा कवि दो चार भवमें ही मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं।

आगे—दीर्घायु पाकर भी सुखी रहने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
दीर्घायुरेवापि सुखी सदा स्यात्॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करनेसे यह मनुष्य दीर्घआयु पाकर भी सदासुखी रहता है।

उत्तर—**व्याघ्रीमुखाद्रक्षित एव जीवो।**
विमोचितो बन्दिगृहात्सुबद्धः॥

येन प्रदत्तं विमलौषधान्नं ।
दीर्घायुरेवापि सुखी सदा स्यात ॥१५४॥

अर्थ—जो जीव किसी वाघ वा सिंहसे किसी जीवको बचा लेता है वा वन्दीगृहमें बंधे हुये प्राणियों को जो छुड़ा लेता है अथवा जो रोगी वा दुःखी जीवोंको निर्मल औषधि वा अन्न प्रदान किया करता है ऐसा जीव परलोकमें जाकर दीर्घायु प्राप्त करता है और सुखी भी रहता है।

भावार्थ—दीर्घायु प्राप्त होनेसे वृद्धावस्थामें अनेक प्रकारके दुःख उत्पन्न हो जाते हैं। इन्द्रियां सर्व शिथिल होजाती हैं, कानों से सुनाई नहीं पड़ता, नेत्रोंसे दिखाई नहीं पड़ता और स्मरण शक्ति सब नष्ट होजाती है। ऐसी अवस्थामें महादुःख होता है। परंतु जो पुरुष जीवों की रक्षा करते रहते हैं, प्रत्येक प्राणीको सुख पहुंचाने का प्रयत्न किया करते हैं, रोगी जीवोंको औषधियां प्रदान किया करते हैं, भूखों को अन्न जल दिया करते हैं और समस्त जीवों के साथ मित्रता का व्यवहार किया करते हैं ऐसे पुरुष परलोक में जाकर दीर्घायु पाकर भी सुखी रहते हैं। वृद्धावस्था में भी उनकी इन्द्रियां काम करती रहती हैं और धन कुटुम्ब आदि सब प्रकारका सुख उनको प्राप्त होता है।

आगे—पूर्ण अङ्ग उपाङ्ग प्राप्त होने का कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्या।**
दंगैरुपांगैः परिपूर्णदेही ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह वतलाइये कि किस

किस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव अपने शरीरके अङ्ग उपांगों को पूर्णरूप से प्राप्त करता है।

उत्तर—**अङ्गाद्युपांगस्य परस्य येन ।**
रक्षा कृता स्वात्मसमा सदा च ॥
परांगपुष्ट्यै च कृतः प्रयत्नो ।
भवेत्स मृत्वा परिपूर्णदेही ॥ १५५ ॥

अर्थ—जो पुरुष सदाकाल अपने आत्माके समान अन्य जीवोंके अङ्ग उपांगोंकी रक्षा किया करता है और दूसरोंके अङ्ग उपांगोंको पुष्ट करने के लिये जो सदाकाल प्रयत्न किया करता है ऐसा जीव परलोकमें जाकर अपने शरीर के समस्त अङ्ग और उपांगोंसे सुशोभित होता है।

भावार्थ—जो दूसरोंको दुःख दिया करता है वह स्वयं दुःखी होता है, जो दूसरोंके अङ्ग उपांगों को काटता है वह स्वयं अङ्ग उपांगहीन होता है तथा जो दूसरों के अङ्ग उपांगों की रक्षा करता है, दूसरोंके अङ्ग उपांगोंके रोगको दूर करता है, दूसरोंका लालन पालन करता है वा उनको पुष्ट बनाता है वह पुरुष परलोक में जाकर अपने अङ्ग उपांगों को पूर्णरूपसे प्राप्त करता है, तथा उसके अङ्ग उपङ्ग सब पुष्ट होते हैं।

आगे—श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।**
श्रेष्ठे कुले जन्म भवेज्जनानाम् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करने से यह जीव श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है।

उत्तर—**परप्रशंसापि निजात्मनिंदा ।**
दीनस्य हीनस्य कृता च सेवा ॥
विश्वप्रशान्त्यै प्रियसत्यभाषा ।
स्यात्तस्य वा श्रेष्ठकुले सुजन्म ॥ १५६ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूसरोंकी प्रशंसा किया करता है, अपनी निन्दा किया करता है, दीन हीन पुरुषोंकी सेवा किया करता है, और समस्त संसार में शांति स्थापित करने के लिये जो प्रिय तथा सत्य वचन बोलता है वह जीव परलोक में जाकर श्रेष्ठकुल में जन्म लेता है।

भावार्थ—श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेना मोक्षका साधन है और इसलिये वह प्रशंसनीय माना जाता है। जो लोग मोक्षमार्गसे लगे हुए जीवोंकी प्रशंसा किया करते हैं, साधुओंकी स्तुति वा वैयावृत्य किया करते हैं, श्रावक श्राविकाओंकी प्रशंसा किया करते हैं, उनको यथा शक्ति दान दिया करते हैं तथा अपनी निन्दा किया करते हैं स्वयं मोक्षमार्ग में चलने का प्रयत्न किया करते हैं दीन हीन मनुष्योंको दान दिया करते हैं, उनकी सहायता किया करते हैं, संसार भरमें शांति स्थापन की इच्छा किया करते हैं और जो सदाकाल प्रिय और सत्य वचन कहा करते हैं ऐसे पुरुष परलोक में जाकर उत्तम कुलमें उत्पन्न होते हैं।

आगे—स्थिर जीविका प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे ।**
आजीविकां वा लभते स्थिरां कौ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे स्थिर जीविकाको प्राप्त कर लेता है ?

उत्तर—**आजीविकायां विनियोज्य दीनान् ।**
स्थानस्थितेभ्यः पशुपक्षिकेभ्यः ॥
दत्त्वान्नपानं हृदि यश्च तुष्ये- ।
दाजीविकां शान्तिकरां लभेत ॥ १५७ ॥

अर्थ—जो पुरुष दीन हीन पुरुषों को आजीविका में लगा देता है और अपने अपने स्थानमें ठहरे हुये पशुपक्षियों को अन्न, जल देकर संतुष्ट होता है ऐसा पुरुष शान्तरीति से चलने वाली और सदाकाल रहने वाली आजीविका को प्राप्त होता है।

भावार्थ—यह जीव निराकुल होने पर सुखी होता है, तथा निराकुल होने पर ही धर्मकार्य में लग सकता है। विना जीविकाके यह जीव प्रतिक्षण व्याकुल बना रहता है। अतएव स्थिरजीविका का होना निराकुलता का कारण है। जो जीव दूसरों की जीविका की जीविका लगाते रहते हैं, भूखों प्यासों को अन्न, जल दिया करते हैं, भूखे पशुओंको चारा दिया करते हैं, भूखे पक्षियोंको दाना डालते हैं अथवा और भी अनेक प्रकार से जो अन्य जीवों को निराकुल और सुखी बनाया करते हैं वे जीव परलोक में जाकर स्थिरजीविका प्राप्त करते रहते हैं और सदाकाल निराकुल होकर सुखी होते हैं।

आगे—नीचकुलमें उत्पन्न होने पर भी धन राज्य आदि प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च कुलेऽपि नीचे ।**
जना लभन्ते धनराज्यसत्ताम् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कार्य के करने से नीच कुलमें उत्पन्न होने पर भी इस जीव को धन वा राज्य मिल जाता है ?

उत्तर—**सेवा कृताऽज्ञानतपःस्थितानां ।**
येन प्रशंसा विनयः कृतश्च ॥
तेभ्यः प्रदत्तं विमलौषधान्नं ।
मृत्वा सुखी नीचकुलेपि सः स्यात् ॥१५८॥

अर्थ—जो जीव अज्ञानता पूर्वक तपश्चरण करने वाले मिथ्यागुरुओं की सेवा करता है, प्रशंसा करता है, विनय करता है वा उनको अन्न, जल, औषधि आदि देता है वह जीव परलोक में जाकर नीच कुल में उत्पन्न होकर भी सुखी होता है ।

भावार्थ—आत्माके यथार्थ स्वरूप को जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जो साधु होकर भी आत्मा के यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं, अथवा आत्माको सर्वव्यापी मानते हैं, वा अणुमात्र मानते हैं, कोई कोई आत्मा और मनको एक मान लेते हैं वा आत्माको क्षणिक मानते हैं इस प्रकार विपरीत मानते हुए वे मिथ्या तपश्चरण करते हैं । उन्हें जीवोंका ज्ञान नहीं, जीवों के स्थानों का ज्ञान नहीं, इसलिए वे पञ्चाग्नि तप तपते हैं, वा वृक्षों पर उलटे लटकते हैं, बाल बढ़ा लेते हैं जिनसे अनेक जीवोंकी हिंसा होती है । इस प्रकार जो साधु अनेक

प्रकार से जीवों की हिंसा करने वाला तपश्चरण करते हैं उनकी सेवा सुश्रूषा करनेसे पुण्य तो होता नहीं किन्तु थोड़ा वहुत अशुभ कर्मों का बन्ध अवश्य होता है, इसलिए वे नीच कुल में उत्पन्न होते हैं तथा अन्नदान देने के कारण वे उस नीच कुल में उत्पन्न होकर भी सुखी अवश्य होते हैं उन्हें धनादिक की प्राप्ति होजाती है वा राज्यादिककी प्राप्ति हो जाती है।

आगे–सत्यताके साथ आजीविका चलनेका कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च जनस्य वृत्तिः ॥**
सत्येन सार्धं चलतीह लोके ॥

अर्थ—हे प्रभो! अव यह वतलाइये कि किस किस कारण से लोगों की आजीविका सत्यता के साथ चलती है।

उत्तर—**निर्व्याजतो येन सधार्मिकेभ्यो।**
दत्तं च दानं भुवितत्प्रशंसा ॥
कृता दरिद्रेऽपि न हीनवृत्तिः।
सत्यैः समं स्याद्भुवि तत्प्रवृत्तिः ॥१५६॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मात्मा पुरुषोंको विना किसी छल कपट के आहार जल देता है, वा उन धर्मात्माओंकी प्रशंसा करता है अथवा दरिद्र होने पर भी अपनी हीनवृत्ति धारण नहीं करता वह पुरुष परलोक में जाकर सत्यताके साथ अपनी जीविका चला लेता है।

भावार्थ—हीनवृत्ति धारण करना पापका कारण है, जिस आजीविका में विशेष हिंसा हो उसको हीनवृत्ति कहते हैं। जो पुरुष दरिद्र होनेपर भी हीनवृत्ति धारण करता हो वा अपनी पापरूप

प्रवृत्ति नहीं होने देता, जो अपनी प्रवृत्ति पुण्यरूप रखने का ही प्रयत्न करता है, पाप कार्यों से बचने का प्रयत्न करता है, धर्मात्मा पुरुषों को बिना किसी छल कपट के आहार दान देता है, उनकी सेवा सुश्रूषा करता है उनकी प्रशंसा करता है वा और भी ऐसे ही ऐसे कार्य किया करता है वह पुरुष परलोकमें जाकर निराकुलरूपसे रहता है तथा उसकी आजीविका सत्यता पूर्वक चलती रहती है।

आगे—अनेक जीवोंका एक साथ सुखी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वदैककाले।**
अनेकजन्तोश्च सुखोदयः स्यात् ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे एक ही कालमें अनेक जीव सुखी हो जाते हैं।

उत्तर—**ये पंचकल्याणविधिं विलोक्य ।**
कृत्वा च भक्त्या जिनतीर्थयात्राम् ॥
दत्वान्नदानं मुनयेऽतिहृष्टा- ।
स्तेष्वेककाले च सुखोदयः स्यात् ॥१६०॥

अर्थ—जो पुरुष पंच कल्याणक विधिको देखकर प्रसन्न होते हैं, वा तीर्थयात्रा करके प्रसन्न होते हैं अथवा जो मुनियोंको अन्नदान देकर संतुष्ट होते हैं ऐसे समस्त पुरुषों को एक ही साथ पुण्यकर्मोंका उदय हो आता है और सब जीव एक साथ सुखी हो जाते हैं।

भावार्थ—पंचकल्याणक विधिको देखने के लिए हजारों मनुष्य इकट्ठे होते हैं। जिस समय मेरुपर्वतपर भगवान्का अभिषेक

होता है उस समय हजारों मनुष्य उसको देखते हैं और एक साथ जयजयकार करते हैं। इसी प्रकार दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक वा मोक्षकल्याणक को देखते समय हजारों मनुष्य एक साथ जय-जयकार करते हैं। उन सबको एक साथ पुण्यका बन्ध होता है। वह पुण्य बन्ध जब उदय में आता है तब भी एक ही साथ आता है और इस प्रकार वे समस्त जीव एक साथ सुखी हो जाते हैं। इसी प्रकार सम्मेद शिखर ऐसे पूज्य तीर्थ स्थानोंपर प्रतिदिन सैंकड़ों यात्री बन्दना करनेके लिए जाते हैं और एक साथ जयजयकार करते हुए वंदना करते हैं। उन सबको पुण्यबंध होता है और वे कर्म एक साथ ही उदयमें आकर उन सबको सुखी बना देते हैं। अथवा किसी स्थानपर सैंकड़ों हजारों मनुष्य किसी मुनिराजके लिए दिए हुए आहारदान की अनुमोदना करते हैं उन सबको एकसाथ पुण्य-कर्मका बंध होता है तथा एक साथ ही उदयमें आता है। ऐसे सब जीवोंको एक साथ ही सुखकी प्राप्ति हो जाती है।

यद्यपि परिणामों में अन्तर होनेसे स्थिति अनुभागमें अंतर पड़ सकता है तथापि ऐसे समयमें अनेक जीवोंके परिणाम प्रायः समान भक्तिरूप होते हैं और ऐसे जीवोंके ही एक साथ उन कर्मोंका उदय होता है, और सब जीव एक साथ सुखी होते हैं।

आगे अनेक जीव जो एक साथ मोक्ष जाते हैं उसका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—कस्माद्धि योगाच्च वदैककाले।
प्रयान्ति मोक्षं बहुजीववर्गः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कार्य के करने से अनेक जीव एक साथ मोक्षमें जा विराज मान होते हैं।

उत्तर—**दीक्षाप्रशंसा बहुजीववर्ग्यैः—।**
भक्त्या कृता तीर्थकरस्य लोके॥
स्वानन्दतुष्टस्य यतेः स्तुतिर्वा।
ते एक काले च शिवं प्रयान्ति॥ १६१॥

अर्थ—जिस समय तीर्थंकरपरमदेव दीक्षा धारण करते हैं उस समय अनेक जीव भक्तिपूर्वक उस दीक्षाकी प्रशंसा करते हैं। अथवा अनेक जीव अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवाले मुनियोंकी स्तुति वा प्रशंसा एक साथ मिलकर करते हैं। प्रायः ऐसे ही पुरुष एक ही साथ मोक्षमें जा विराजमान होते हैं।

भावार्थ—तीर्थंकरपरमदेव जब दीक्षा धारण करते हैं तब लाखों लौकांतिक देव आकर उन तीर्थंकर भगवान् की स्तुति करते हैं तथा हजारों लाखों विद्याधर और हजारों लाखों भूमिगोचरी आकर उन तीर्थंकर भगवान् की स्तुति करते हैं। उनमेंसे लौकांतिक देव तो सब एकावतारी ही होते हैं। वहां से आकर चरम शरीरी मनुष्य होते हैं और तपश्चरण कर मोक्ष जाते हैं। तथा विद्याधर और भूमि गोचरियों में भी अनेक जीव भव्य होते हैं और अनेक जीव निकट भव्य होते हैं। ऐसे जीवों में से ही कितने ही जीव एक दो भव धारण कर एक साथ मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

आगे– किसी पशु वा किसी मनुष्यको देखकर परस्पर दोनोंमें प्रेम होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**पशु नरं वा कमपीह दृष्ट्वा।**

कस्मात् शुभात्स्याच्च मिथः प्रमोदः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस शुभ कारण से किसी पशु वा मनुष्य को देखकर परस्पर प्रेम उत्पन्न हो जाता है?

उत्तर—**पिता च माता यदि वा सुपुत्रो।**

भक्त्योपकारं ह्यकरोन्मिथोन्यः॥

सखा भवेत्पूर्वभवस्य बंधु-

स्तान्वीक्ष्य मोहो भवतीह जन्तोः॥१६२॥

अर्थ—पिता,माता, सुपुत्र वा भाई-बन्धु आदि मिलकर जब भक्तिपूर्वक एक दूसरेका उपकार करते हैं उनमेंसे परलोकमें जाकर जब किसी एक जीव को देखते हैं अथवा पूर्वभवके किसी भाई वा मित्र के जीव को देखते हैं तब जीवोंको मोह उत्पन्न हो ही जाता है।

भावार्थ—जब किसी पशु वा मनुष्यको देखकर प्रेम उत्पन्न होता है वा द्वेष उत्पन्न होता है तो समझ लेना चाहिये कि इसके साथ पहले भवका कोई न कोई संबंध अवश्य है। विना पहले भव के संबंधके देखतेही न तो प्रेम उत्पन्न हो सकता है और न द्वेष उत्पन्न हो सकता है। पहले भव में जिन जीवोंने अपना उपकार किया है अथवा जो अपने द्वारा उपकृत हुए हैं उन्हें देखकर मोह उत्पन्न हो जाता है और इसीलिये उनसे प्रेम प्रगट होने लगता है। पहले

जन्मके मित्र वा भाई-बंधु भी कहीं भी भिन्न २ स्थानों में उत्पन्न होते हैं परंतु जब वे जीव परस्पर एक दूसरे को देखते हैं तब परस्पर प्रेम उत्पन्न हो ही जाता है। यही समझकर किसी जीव से द्वेष नहीं करना चाहिये किन्तु सबका उपकार करते रहना चाहिये।

आगे—दुःख में सहायक होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**किं कारणं मेऽस्ति विना हि कोऽपि।**
दुःखे सहायो भवतीह जीवः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि विना कारण के ही कोई भी जीव अपने किसी दुःखमें सहायक हो जाता है इसका क्या कारण है?

उत्तर—**यस्मै प्रदत्तं वसनौषधान्नं।**
यस्यैव रक्षा विपदि त्वया चेत् ॥
कृता विशेषा हृदि यत्प्रशंसा।
स स्यात्सहायो विषमेपि दुःखे ॥१६३॥

अर्थ—पहले जन्ममें जिस किसीके लिये वस्त्र दिया है औषधि दी है वा अन्न जल दिया है वा विपत्तिमें किसी की रक्षा की है वा जिस किसी की हृदयसे विशेष प्रशंसा की है ऐसा जीव परलोक में जाकर भी किसी विशेष आपत्तिके समय में भी सहायक हो जाता है।

भावार्थ—पहले जन्ममें जिस किसी का हम लोग उपकार करते हैं वा जिस किसी को किसी आपत्तिसे बचाते हैं, किसी रोगसे बचाते हैं वा उसकी इच्छानुसार पदार्थकी प्राप्ति कर देते हैं

वा जिस किसी की सेवा सुश्रूषा करते हैं अथवा जिस किसी परदेशी की सहायता कर देते हैं, किसी बिछुड़े हुए को उसके स्थान पर पहुंचा देते हैं अथवा किसी भी प्रकार से जिस किसी का उपकार करते हैं वह जीव इस जन्म में भी अपने ऊपर किसी प्रकार की आपत्ति वा दुःख आनेपर अकस्मात आकर सहायक बन जाता है और उस दुःख को दूर कर देता है। यही समझकर सदाकाल दूसरे का दुःख दूर करते रहना चाहिये वा दूसरों का उपकार करते रहना चाहिये।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
व्ययो धनादेर्भवतीह धर्मे।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे इस जीव का धन वा अन्य पदार्थ धर्मके ही काम में लगते हैं।

उत्तर—**धनव्ययं ुर्वत एव धर्मे।**
लीनान् सुविद्याध्ययनेपि जीवान्॥
प्रभावनायां प्रविलोक्य तुष्येद्।
धर्मे सदा तस्य धनव्ययः स्यात् ॥१६४॥

अर्थ—जो लोग किसी भी धर्म कार्य में अपना धन खर्च करते हैं वा धर्म की प्रभावना करने में अपना धन खर्च करते हैं, अथवा जो जीव मोक्षमार्गको प्रतिपादन करने वाले धर्मशास्त्रोंके पठन पाठन में तल्लीन रहते हैं ऐसे जीवों को देखकर जो अत्यन्त संतुष्ट होते हैं ऐसे जीवों का धन सदाकाल धर्म में ही खर्च होता है।

भावार्थ—जिनके धार्मिक संस्कार पहले जन्म से होते हैं, जिनको पहले जन्मसे ही धर्म प्रेम है, जो पहले जन्म में भी धर्म-कार्यों में खर्च होते देखकर संतुष्ट होते थे, जो धर्मकी प्रभावना में खर्च होते देखकर प्रसन्न होते थे, अथवा जो धर्म शास्त्रों का स्वाध्याय करनेवालों को देखकर वा धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों को देखकर प्रसन्न होते थे, वा और भी अनेक धार्मिक संस्कारों को देखकर जो अत्यन्त प्रसन्न होते थे ऐसे जीव इस लोकमें भी आकर धर्म प्रेम रखते हैं, उनके संस्कार सब धार्मिक होते हैं और उनका धन अन्य समस्त पदार्थ धर्म के ही काम में खर्च होते हैं। यही समझकर धर्म प्रेम सदा बनाये रखना चाहिये। परंपरा से यही जीवों के लिये मोक्ष का साधन है।

आगे–श्रुतज्ञानी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
जीवो भवेत्कौ श्रुतबोधधारी ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह किस किस पुण्यकार्यके करनेसे श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला होताहै।

उत्तर—**आज्ञापि भक्त्या परिपालिता हि।**
गुरोश्च सेवा विनयोपचारः ॥
येन प्रशंसापि कृतात्मशुद्धे।
भवेत्स भव्यः श्रुतबोधधारी ॥१६५॥

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक गुरुकी आज्ञाका पालन करते हैं भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करते हैं उनका विनय करते हैं वा

उनकी सुश्रूषा करते हैं और जो उनकी स्तुति वा प्रशंसा करते हैं अथवा जो आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्रशंसा किया करते हैं ऐसे भव्य जीव श्रुतज्ञान को धारण करने वाले होते हैं।

भावार्थ—श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम गुरुभक्ति करने से होता है, गुरुकी सेवा करनेसे होता है, उनकी आज्ञाका पालन करने से होता है, उनकी प्रशंसा करने से होता है, भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए वचनों का प्रचार करने से होता है। जिनवाणी का पठन पाठन करने वा कराने से होता है, वा जिनवाणी का पठन-पाठन करनेवालों की सहायता करने से होता है। अभिप्राय यह है कि जो भव्यजीव श्रुतज्ञान की वृद्धि करता कराता रहता है वह जीव अगले जन्म में अवश्य ही उत्तम श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला होता है। यही समझकर भव्यजीवोंको सदाकाल जिनवाणी की ही सेवा करते रहना चाहिये और उसी का अभ्यास करते रहना चाहिये।

आगे—शीलवान् होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
सच्छीलधारी भवतीह जीवः ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस २ पुण्यकार्य के करने से यह जीव परलोकमें जाकर शीलवान उत्पन्न होता है।

उत्तर—**सुशीलवत्याः सुजनस्य सेवा।**
स्वानन्दभाजः सुगुरोः सुसंगः ॥

श्रीदा कृता येन निजात्मचर्चा।
स स्यान्मनुष्यश्च सुशीलधारी ॥१६६॥

अर्थ—जो मनुष्य पहले जन्म में शीलवती स्त्रियों की सेवा किया करता है, शीलवान सज्जन पुरुषों की सेवा सुश्रूषा किया करता है, अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके समीप रहकर उनकी सेवा किया करता है, और अंतरंग वहिरंग लक्ष्मी को देनेवाली अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी चर्चा किया करता है, वह मनुष्य इस लोक में आकर अत्यन्त शीलवान् होता है।

भावार्थ—जिस जीव के शील पालन करने की इच्छा होती है, जो शील पालन करने को श्रेष्ठ समझता है, और आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझता है वह जीव शीलवान पुरुषों की सेवा सुश्रूषा किया करता है, वा शीलवती स्त्रियों को उत्तम समझकर उनकी प्रशंसा किया करता है। अथवा परम शीलव्रत वा परम ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाले और अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहने वाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओं के समीप रहकर उनकी सेवा सुश्रूषा किया करता है, अथवा परम ब्रह्मचर्य शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने के लिये उसकी चर्चा किया करता है, उसका मनन अध्ययन और ध्यान किया करता है ऐसा पुरुष परलोक में जाकर परम शीलवान् होता है।

आगे—सर्व प्रिय होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
भवेन्मनुष्यः सकलप्रियः कौ ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्य कार्यके करनेसे यह जीव इस संसारमें सर्वप्रिय होता है।

उत्तर—**स्नेहो मिथो येन कृतोऽनुरागः।**
सद्धर्मदेवादिगुरो क्षमादौ॥
निजात्मनिंदा च परप्रशंसा।
स एव भव्यः सकलप्रियश्च॥१६७॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मात्मा भाइयों में प्रेम धारण करता है, धर्म में अनुराग रखता है, भगवान् अरहंत देव में वा वीतराग निर्ग्रंथ गुरु में अनुराग रखकर उनकी भक्ति करता है, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्ममें अनुराग धारण करता है, धर्मात्मा जीवों की प्रशंसा किया करता है और अपनी निंदा किया करता है, ऐसा भव्य जीव इस संसारमें सबको प्रिय लगने वाला होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म में प्रेम रखता है वही मनुष्य धर्मात्माओं में प्रेम रख सकता है। तथा जो धर्म में प्रेम रखता है वही पुरुष देव शास्त्र गुरु की भक्ति किया करता है उनकी पूजा किया करता है उनकी आराधना किया करता है। इस प्रकार जो पुरुष धर्मप्रिय होता है वही पुरुष अगले जन्म में जाकर सर्वप्रिय बन जाता है। देखो! धर्म में प्रेम रखने के कारण वा धर्म को पूर्ण रीति से पालन करने के कारण तीर्थंकर परमदेव होते हैं और वे तीर्थंकर समस्त देवों को समस्त मनुष्योंको और समस्त तिर्यंचों को प्रिय होते हैं। सामान्य केवली भी धर्म पालन करनेके कारण ही होते हैं और इसीलिये वे भी सर्वप्रिय ही होते हैं।

अतएव सर्वप्रिय बनने के लिये धर्मपर अनुराग रखना अत्यन्त आवश्यक है।

आगे—घर घर मंगल गान होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
गृहे गृहे मंगल गीतवाद्यम् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्य कार्य के करने से घर घर मंगल गीत और वाद्य होते रहते हैं।

उत्तर—**महोत्सवो येन जिनार्चनादि।**
भक्त्या कृता तीर्थकरस्तुतिश्च ॥
दूरीकृतं दुःखचयं जनानां।
सन्मंगलं स्यात्खलु तद्गृहादौ ॥१६८॥

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा किया करता है, रथोत्सव प्रतिष्ठोत्सव आदि उत्सव किया करता है भगवान् तीर्थंकर परमदेव की स्तुति किया करता है, और जो समस्त जीवों के दुःखों को दूर किया करता है, ऐसे पुरुष के घर सदा काल मंगल गीत हुआ करते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष पहले जन्म में बार २ धर्मोत्सव किया करता है, कभी रथयात्रा का उत्सव कराता है, कभी जिनालय बनवाकर उसका उत्सव कराता है, कभी जिनप्रतिमा बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा का महा-उत्सव कराता है, कभी किसी व्रतका उद्यापन कराता है और कभी किसी व्रत का उद्यापन कराकर

व मनाता है। इस प्रकार जो मनुष्य सदाकाल धर्मोत्सव
या करता है वह पुरुष परलोक में जाकर भी अनेक उत्सवोंका
होता है। उसके घर प्रतिदिन उत्सव होता रहता है, प्रति-
गीत मङ्गल होते हैं और प्रतिदिन बाजे बजते हैं। कभी
त्सव के गीत मङ्गल होते हैं, कभी पौत्रोत्सव के होते हैं, कभी
प्राप्ति के होते हैं, कभी किसी विजय पर होते हैं। यही समझ
प्रत्येक जीवको सदाकाल धर्मोत्सव मनाते रहना चाहिये।

आगे—मिष्ट वाणी प्राप्त होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वदेति वाणी।**
प्रिया भवेत्कोकिलवज्जनानाम् ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस
न पुण्यकार्य के करनेसे इस मनुष्य को कोकिल के समान मिष्ट
ी प्राप्त होती है?

उत्तर—**सरस्वतीनां सततं सुसेवां।**
जिनेन्द्रभक्तिं कृतवान् सुगीत्या ॥
सम्यक् प्रयत्नं प्रियभाषणार्थं।
तेषां भवेत्कोकिलतुल्यवाणी ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो पुरुष सरस्वती देवीकी सदाकाल सेवा किया
ता है, जो मीठे मीठे गीत गाकर भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति
या करता है और जो प्रियभाषण करने के लिये भरसक प्रयत्न
या करता है उन पुरुषों की वाणी परलोक में जाकर कोकिलके
ान मिष्ट और प्रिय होती है।

भावार्थ—जो पुरुष पहले जन्ममें अनेक प्रकार के स्तोत्र पढ़कर, अनेक प्रकार के गीत गाकर, अनेक प्रकार की गद्यपद्यमय कविता बनाकर वा अन्य किसी भी प्रकार से भगवन् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करता है, अथवा जो भगवान् जिनेन्द्रदेवकी वाणी का पठन पाठन करता है, लिखकर वा लिखाकर जिनालयमें समर्पण करता है, वा चारों प्रकार के संघको समर्पण करता है, वा गुरुको भेंट करता है, शास्त्रों को श्रेष्ठ बन्धन में बांधकर रखता है भव्य जीवोंके लिए उन शास्त्रों के पठन पाठन की व्यवस्था कर देता है, उनके रखनेके स्थान व साधन बनवा देता है और इस प्रकार जो सरस्वती माताकी सेवा किया करता है तथा सदाकाल प्रिय मिष्ट भाषण करनेके लिए प्रयत्न किया करता है ऐसे पुरुषों को परलोक में जाकर अत्यन्त मिष्ट स्वर प्राप्त होता है, जिससे उसकी वाणी कोकिल के समान सबके लिये प्रिय और मिष्ट मालूम होती है। यही समझकर भव्यजीवों को सदाकाल भगवान् की भक्ति करते रहना चाहिये और सदाकाल जिणवाणी माता की सेवा करते रहना चाहिये।

आगे—संतोष और शांति के लाभ का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्यात् ।**

सन्तोषशान्तेश्च विशेषलाभः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे संतोष और शांतिका विशेष लाभ होता है ?

उत्तर—**निर्ग्रंथसाधोश्च जिनागमस्य ।**

चित्ताक्षजेतुश्च विशेषसेवा ॥

कृता स्तुतिर्येन च तस्य संगः ।
सन्तोषशान्तेश्च विशेषलाभः ॥ १७० ॥

अर्थ—जो पुरुष वीतराग निर्ग्रंथ साधुओं की विशेष सेवा करता है, जिनवाणी की विशेष सेवा करता है, इन्द्रिय और मनको जीतने वालों की विशेष सेवा करता है, अथवा जो देव शास्त्र गुरु की स्तुति करता रहता है ऐसे पुरुष को सन्तोष और शांति विशेष लाभ हुआ करता है।

भावार्थ—जो पुरुष सन्तोष और शांति का स्वरूप समझते हैं, तथा जो आत्माके शुद्ध स्वरूप में ही यथार्थ सन्तोष और शांति समझते हैं, ऐसे ही पुरुष यथार्थ सन्तोष और यथार्थ शांति को धारण करने वाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओं की सेवा किया करते हैं उनकी स्तुति किया करते हैं उनका वैय्यावृत्य किया करते हैं, और उनकी आज्ञा का पालन किया करते हैं। इसी प्रकार वे मनुष्य भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति, स्तुति, पूजा आराधना किया करते हैं, जिनवाणी की सेवा किया करते हैं, जिनवाणी के पठन-पाठन का आस्वादन किया करते हैं और सब प्रकार से जिनवाणी माता की सेवा और भक्ति किया करते हैं, ऐसे ही महापुरुष उस परमसन्तोष और परमशांति का विशेष लाभ प्राप्त किया करते हैं। देव, शास्त्र, गुरुके समागम और उनकी सेवा से उनके आत्मा में परम शांति और परमसन्तोष प्राप्त हो जाता है। यही उनकी शांति और सन्तोष का विशेष लाभ है।

आगे—पापकार्योंसे होने वाली धनकी वृद्धिका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च सदापि जन्तो– ।**
वृ्द्धिर्भवेत्पापकृते धनादेः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कैसे पुण्यकार्य से पाप में लगने वाले धन की वृद्धि होती है ।

उत्तर—**परोपकारः खलु केवलं यै– ।**
मिथ्याव्रतं वा कुतपः कृतं चेत् ॥
स्यादेव तेषामपि तत्प्रभावाद् ।
वृद्धिः सदा पापकृते धनादेः ॥ १७१ ॥
भुक्तं यथान्नं ह्युदरे च यावत् ।
तिष्ठेन्न तावत्तुदति क्षुधादिः ॥
पूर्वार्जितं पापमपीह यावत् ।
जन्तोर्न सत्कार्यकृतेपि शांतिः ॥ १७२ ॥

अर्थ—जो पहले जन्ममें केवल परोपकार किया करते हैं, मिथ्याव्रतोंका पालन करते हैं, मिथ्या तपश्चरण करते हैं ऐसे पुरुषों के उस मिथ्यातपश्चरण आदि के प्रभाव से अनेक पाप उत्पन्न करने के लिये धनादिक की वृद्धि होती है । जिस प्रकार जब तक भूख की बाधा नहीं सताती तब तक भोजन किया हुआ अन्न पेटमें बना ही रहता है, उसी प्रकार जब तक जीवों के सत्कार्य शांति नहीं होती तब तक पूर्वोपार्जित पापकर्म बने ही रहते हैं ।

भावार्थ—उपकार दो प्रकार का होता है पहला उपकार अपने आत्मा का कल्याण करना और दूसरा उपकार अन्यजीवोंके आत्मा का कल्याण करना है । जो जीव पहले अपने आत्माका

कल्याण कर लेते हैं वे ही जीव अन्य आत्माओं का कल्याण कर सकते हैं, जो जीव स्वयं अभक्ष्य भक्षण करता है वह दूसरों के लिए अभक्ष्य त्याग करने का उपदेश नहीं दे सकता। यदि किसी प्रयोजन वश देता भी है तो उस उपदेश का कोई असर नहीं होता। गृहस्थोंके हजारों उपदेशों का जो असर होता है उससे कहीं अधिक असर मुनिराज के एक वाक्य का हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे पहले अपने आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिये। अपने आत्माका कल्याण हो जानेपर अन्य जीवों का कल्याण स्वयं होने लगता है। अतएव जो पुरुष अपने आत्मा का कल्याण न करते हुए केवल दूसरों को उपदेश दिया करते हैं उनका वह उपदेश देना वा उपकार करना मिथ्या है। इसी प्रकार मिथ्या तपश्चरण करने से वा मिथ्या व्रतों के पालन करने से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। दिनभर उपवास करना और फिर रातमें भोजन करना पुण्य का कारण नहीं हो सकता। अतएव ऐसे तपश्चरण वा व्रतोंके पापानुबंधी पुण्यका बंध होता है। जिस पुण्य के उदय से पापका बंध होता हो उसको पापानुबंधी पुण्य कहते हैं। ऊपर लिखे मिथ्या तपश्चरण वा मिथ्या व्रतोंसे वा मिथ्या तपस्वियों को दान देने से परलोकमें जाकर धनकी प्राप्ति हो जाती है परंतु ऐसा धन पापकार्यों में ही लगताहै, किसी व्यसनमें लगता है वा किसी हिंसाके साधनमें लगता है। इस प्रकार उससे महा-पाप उत्पन्न होकर नरकादिक के दुःख प्राप्त होते हैं। यहांपर इतना

और समझ लेना चाहिए कि मिथ्यात्रत आदिकोंके द्वारा जो पापानुबन्धी पुण्यका बंध होता है उनका उदय जब तक बना रहता है तब तक उस धनके द्वारा होने वाले व्यसनादिकों से उत्पन्न हुए पाप कर्म उदयमें नहीं आते। जब उस पापानुबंधी पुण्यका उदय समाप्त हो जाता है तब उन पापोंका उदय होता है। पापी जीवोंके सुखी होने का यही कारण है।

आगे देव भी दास होजाते हैं, इसका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च नृणां भवेयुः।**
सर्वेपि देवाः सुजनाश्च दासाः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करने से देव भी दास होजाते हैं, तथा सज्जन भी दास हो जाते हैं?

उत्तर—**सुधार्मिका वा सुखिनश्च जीवाः।**
भवन्तु भक्ताः सुगुरोर्जिनस्य॥
पुरेति भावश्च बभूव येषां।
सर्वेपि देवाश्च भवन्ति दासाः॥ १७३॥

अर्थ—इस संसार में समस्त जीव सुखी हों, समस्त जीव धार्मिक हों, समस्त जीव भगवान् जिनेन्द्रदेव के भक्त हों और समस्त जीव वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके भक्त, इस प्रकार के उत्तम भाव जिनके होते हैं वे जीव अगले जन्ममें जाकर उत्तम मनुष्य होते हैं। और देव लोग भी उनकी सेवा किया करते हैं।

भावार्थ—इस जीवके जैसे परिणाम होते हैं वैसे ही शुभ

वा अशुभ कर्मोंका बंध हुआ करता है। जो जीव मोक्षमार्ग में लगा रहता है, तथा दूसरोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिए सदाकाल प्रयत्न किया करता है अथवा सब जीव अपने अपने पाप कर्मोंका त्याग करदें और सब जीव अहिंसामय पवित्र जैनधर्मका पालन करें, समस्त जीव सुखी हों इस प्रकार जो अपने परिणामों को सदाकाल धर्मध्यान में लगाता रहता है वह जीव उस धर्म ध्यानके प्रभाव से स्वर्गमें उत्तमदेव होता है। वहां पर भी अनेक देव उसके दास होते हैं तथा वहां से आकर चक्रवर्ती आदि उत्तमपद को धारण करने वाला मनुष्य होता है और उस समयमें अनेक देव उसकी सेवा करते हैं यही समझकर भव्य जीवोंको सदाकाल अपने परिणाम शुभ वा धर्मध्यानरूप ही बनाये रखना चाहिए और सदाकाल मोक्ष मार्गमें लगे रहना चाहिए।

आगे खर्च करनेपर भी धनकी वृद्धि होनेका कारण उदाहरण सहित दिखलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
धनस्य वृद्धिर्भवति व्ययेऽपि।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्यके करनेसे खर्च करने पर भी धनकी वृद्धि होती रहती है।

उत्तर—**सुपात्रदाने हि धनव्ययेन।**
वृद्धिर्धनादेश्च भवेन्न हानिः॥
निष्कासनात्कूपजलस्य वृद्ध--।
र्यथान्यविद्यार्थिजनाय दानात्॥ १७४॥

अर्थ—वीतराग निर्ग्रंथ मुनियोंको आहारदान देने से वा औषधदान देनेसे, वसतिका बनवा देनेसे वा शास्त्रदान देनेसे सदाकाल धनकी वृद्धि होती रहती है। सुपात्रोंको दान देनेसे धनकी हानि कभी नहीं होती। जैसे कि कूएसे जल निकालने पर भी जलकी कमी नहीं होती अथवा विद्यार्थियों को विद्या पढ़ाने से वा देने से बुद्धिमें किसी प्रकार की कमी नहीं होती किंतु विद्यादान देने से बुद्धिकी वृद्धि होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रतिदिन कूएसे पानी निकाला जाता है परन्तु कूएमें पानी उतना ही बना रहता है जितना निकलता है उतना ही आ जाता है। तथा जिस प्रकार विद्या दान देनेसे विद्याकी कमी नहीं होती किंतु विद्या और बुद्धि दोनोंकी वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार सुपात्रों को दान देनेसे धनमें कभी कमी नहीं होती किंतु सुपात्र दान देनेसे जो पुण्यकी वृद्धि होती है उससे धनकी वृद्धि ही होती रहती है यही समझकर सुपात्रों के लिए सदाकाल चारों प्रकारका दान देते रहना चाहिए।

आगे—सर्वत्र कीर्ति फैलनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
सर्वत्र कीर्तिर्भवतीह नृणाम् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्य कार्यके करनेसे मनुष्यों की कीर्ति सर्वत्र फैलती है।

उत्तर—**मानापमानो भवदश्च येन।**
त्यक्तः कृतः सर्वहिताय यत्नः ॥

तस्यैव कीर्तिः शशिनो विशुद्धा ।
समस्तविश्वे प्रसरेत्प्रभेव ॥ १७५ ॥

अर्थ—जो पुरुष संसारको बढ़ानेवाले अपने मान अपमान का सर्वथा त्याग कर समस्त जीवोंके हितके लिये प्रयत्न करता रहता है उसकी चंद्रमा की प्रभाके समान निर्मल कीर्ति समस्त संसारमें फैल जाती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा की निर्मल चांदनी समस्त संसारमें फैल जाती है और लोगोंको आनन्द देती है उसीप्रकार जो पुरुष जन्म मरण रूप संसार को बढ़ाने वाले मान वा अपमान का सर्वथा त्याग कर देता है, और समस्त जीवों के हित के लिये सदाकाल प्रयत्न करता रहता है । इसके सिवाय जो देवशास्त्र गुरुकी भक्ति करता है, उनकी पूजा स्तुति करता है वा उनके अनुपम गुणोंका स्मरण किया करता है उस पुरुपकी निर्मल कीर्ति समस्त संसारमें फैल जाती है और सबको सुख देनेवाली होती है ।

आगे मनोज्ञ शरीर प्राप्त करने का कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वपुर्मनोज्ञं ।**
वद प्रभो ! मे लभते मनुष्यः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस पुण्यकार्यके करनेसे इस मनुष्यको मनोहर शरीर की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—**यः शुद्धचिद्रूपसुखस्य चर्चां ।**
करोति चानन्दपदे प्रवृत्तिम् ॥

स्वानन्दतृप्तस्य मुनेश्च सेवां।
स दिव्यदेहं लभते मनुष्यः॥ १७६॥

अर्थ—जो पुरुष चिदानन्दमय शुद्ध आत्मा के अनन्त सुख की चर्चा किया करता है, जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में वा उसके अनन्त सुखमें प्रवृत्ति किया करता है और जो अपने शुद्ध आत्मामें तृप्त रहनेवाले परम मुनियोंकी सेवा किया करता है वह मनुष्य परलोकमें दिव्य शरीरको धारण करता है।

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम मुनियोंकी सेवा किया करता है, वा धर्मध्यान धारण किया करता है. शुद्ध ध्यानमें भी लीन रहता है। अथवा जो घोर तपश्चरण करता है, दश धर्मों का पालन करता है, गुप्ति समितियों का पालन करता है वा और भी पापों को नाश करने वाले कार्य किया करता है वह मनुष्य परलोक में जाकर दिव्य शरीर को धारण करनेवाला देव होता है और वहांसे आकर कामदेव वा कामदेव के समान मनोहर शरीर को धारण करनेवाला उत्तम मनुष्य होता है।

आगे श्रेष्ठ मनुष्योंमें भी माननीय होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च जनाः प्रभो! ये।**
सन्मान्यतां श्रेष्ठजनेऽपि यान्ति॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस २ कार्यके करनेसे यह जीव श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी माननीय माना जाता है।

उत्तर—**पुराभवे सर्वनृणां हिताय।**
कृतः प्रयत्नो विनयोपचारः॥

सतां यथायोग्य नतिक्रिया यै-
स्ते योग्यतां श्रेष्ठजनेपि यान्ति ॥ १७७ ॥

अर्थ—जो जीव पहले जन्ममें समस्त जीवोंके हितके लिए प्रयत्न किया करते हैं अथवा जो पुरुष सज्जन पुरुषों का विनय किया करते हैं, उनकी सेवा सुश्रूषा किया करते हैं, वा यथायोग्य रीतिसे उनको नमस्कार किया करते हैं ऐसे पुरुष परलोकमें जाकर श्रेष्ठ मनुष्योंमें भी सर्वोत्तम योग्यता को धारण करते हैं।

भावार्थ—योग्य काम करनेसे योग्यता प्राप्त होती है। जो जीव समस्त जीवोंके हितके लिए प्रयत्न करते हैं रहते हैं, दुःखी जीवोंका दुःख दूर करते हैं, रोगियोंकी सहायता करते हैं, भूखोंको अन्न जल देते हैं, वा सज्जनों की सेवा सुश्रूषा किया करते हैं, उनकी वैयावृत्य किया करते हैं, वा ऐसे ही ऐसे और भी उत्तम उत्तम धार्मिक कार्य किया करते हैं ऐसे मनुष्य परलोकमें जाकर श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी अत्यन्त योग्य वा सबके माननीय उत्तम मनुष्य होते हैं।

आगे पापानुबन्धी पुण्यका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि कार्याच्च जनश्च लोके।**
पापानुबंध्यं च करोति पुण्यम ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कार्यके करनेसे यह मनुष्य पापानुबन्धी पुण्य उत्पन्न करता है।

उत्तर—**मन्दोदयात्कर्मण एव जीवः।**
मिथ्यात्वयुक्तं च करोति पुण्यम् ॥

सुखस्य लेशं भुवि दर्शयित्वा।
प्राप्नोति जीवं भुवि पापमार्गे ॥ १७८ ॥

अर्थ—पापकर्मोंके मन्द उदय होने से यह जीव मिथ्यात्वके साथ पुण्यकार्य करता है वह पुण्यकार्य परलोकमें जाकर थोड़ासा सुख दिखला देता है परंतु फिर इस जीवको पापमार्गमें ही घसीट ले जाता है।

भावार्थ—जो जीव मिथ्यात्व के साथ थोड़ासा पुण्यकार्य करते हैं उनके पुण्यबन्ध तो थोड़ा होता है, परंतु मिथ्यात्वके निमित्तसे पापकर्मोंका बंध अधिक होता है। ऐसे पुण्य को पापानुबंधी पुण्य कहते हैं। ऐसे पुण्यके उदयसे थोड़ासा सुख मिलता है परंतु उस सुखसे वा उस पुण्यके उदय से मिले हुए धनादिकके द्वारा वह पापकर्म अधिक करने लगता है और फिर उस पापके फल नरकादिक के दुःख भोगता है। इसलिये इस जीव को सबसे पहले मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिये। समस्त दुःखोंका मूल कारण यही है।

आगे पुण्यानुबंधी पुण्यका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कथं कदायं भुवि भव्यजीवः।**
पुण्यानुबंध्यं च करोति पुण्यम् ॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह भव्यजीव कब और किस प्रकार पुण्यानुबंधी पुण्य प्राप्त करता है।

उत्तर—**भव्यो जनो दर्शनमोहनाशाद्।**
यत्किंचिदेवं हि शुभं करोति ॥

पुण्यानुबंध्यं कथितं तदेव।
तद्योगतो याति शिवं स योगी ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव दर्शनमोहनीय कर्म के नाश होनेसे जो कुछ भी पुण्यकार्य करता है उसको पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं, इस पुण्यानुबंधी पुण्यके निमित्त से यह योगी अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—इस संसारमें दर्शनमोहनीय कर्म ही समस्त पापोंका कारण है। जब यह दर्शनमोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है और निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। तब यह जीव अपने आत्माके यथार्थ स्वरूप को जानने और देखने लगता है तथा साथमें आत्मासे भिन्न शरीरादिक पर पदार्थोंका स्वरूप भी समझने लगता है। उन दोनोंका स्वरूप समझकर वह आत्माके शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करने लगता है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप से भिन्न राग द्वेष आदि समस्त विभाव परिणामों का त्याग देता है, तथा धन-धान्य वा शरीरादिकसे भी ममत्वको त्याग देता है। ऐसी अवस्थामें उससे पापकार्य तो कभी बनता ही नहीं है, वह जो कुछ करता है वह पुण्यकार्य वा शुभकार्य ही होता है। ऐसे पुण्यकार्य से जो पुण्यकर्मका बन्ध होता है उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं। ऐसे पुण्यकर्मके निमित्तसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव, बलदेव आदि उत्तम पदको धारण करनेवाली उत्तम मनुष्यपर्याय पाकर जैनेश्वरी दीक्षा लेता है और घोर तपश्चरण कर समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही समझकर समस्त भव्यजीवों को सबसे

पहले मोहनीयकर्मका नाश कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिये। सम्यग्दर्शनके प्राप्त होने से अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

आगे परस्पर शांतिका कारण वतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
मिथो जनानां भवतीह शांतिः॥

अर्थ—हे भगवन् ! अव कृपाकर यह वतलाइये कि किस किस पुण्यकार्य के करने से लोगों में परस्पर शांति वनी रहती है।

उत्तर—**गुरूपदेशामृतपानतृप्ता।**
दक्षा सदा ये स्वपरोपकारे॥
तेषां जनानां शिववांच्छकाना-।
मिहान्यलोकेऽपि मिथः प्रशांतिः॥ १८०॥

अर्थ—जो पुरुष वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंके उपदेशरूपी अमृतके पीनेसे सदाकाल तृप्त रहते हैं और जो अपने आत्मा का कल्याण करने में तथा अन्यजीवों के कल्याण करने में सदाकाल चतुर रहते हैं ऐसे मोक्ष की इच्छा करनेवाले जीवों को इस लोकमें सवके साथ शांति रहती है और परलोकमें भी सदाकाल शांति रहती है।

भावार्थ—जो आत्मा के शांत स्वभावको समझते हैं, वे ही भव्यजीव सदाकाल शांत रहते हैं। ऐसे जीव पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति किया करते हैं, सदाकाल उनकी पूजा किया करते हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधुओंकी आज्ञा का पालन किया करते हैं, उनके उपदेशसे अपने आत्माको तृप्त किया करते हैं, व्रत उपवास

वा ध्यान आदिके द्वारा अपने आत्मा का कल्याण किया करते हैं तथा अन्य भव्यजीवों को भी उसी आत्मकल्याण के मार्गमें लगाते रहते हैं। ऐसे जीव इस लोक में भी शांति और निराकुलताके साथ व्यतीत करते हैं और परलोक में जाकर भी परमशांत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

आगे सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! मे।**
सर्वार्थसिद्धिं लभते मनुष्यः॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस पुण्यकार्यके करनेसे सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होता है?

उत्तर—**धर्मानुरागात्स्वपदाभिलाषात्।**
स्वस्वादिनः पंचगुरोः कृपाब्धेः॥
सेवाविशेषाच्छुभशुक्लयोगात्।
सर्वार्थसिद्धिं लभते मनुष्यः॥ १८१॥

अर्थ—जो मनुष्य सदाकाल धर्मसे अनुराग रखता है, अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप के प्राप्त होनेकी अभिलाषा रखता है, अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करते रहते हैं कृपाके सागर ऐसे पञ्चपरमेष्ठियों की विशेष सेवा किया करते हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को धारण किया करते हैं ऐसे जीव सर्वार्थसिद्धिमें जाकर उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—स्वर्ग में सर्वार्थसिद्धि सबसे ऊपर और सबसे उत्तम विमान है, वहांके देवोंका शरीर एक हाथका होता है वे

अहमिन्द्र कहलाते हैं, सब समान ऋद्धिको धारण करनेवाले होते हैं। उनकी आयु तेतीस सागर की होती है। वे अपना विमान छोड़कर कहीं नहीं जाते। वहीं पर बैठे बैठे केवल जीव तत्त्वकी चर्चा किया करते हैं और आयु पूर्ण कर उत्तम मनुष्य होते हैं और तपश्चरण कर नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। ऐसी इस सर्वार्थसिद्धिके देव घोर तपश्चरण करनेसे होते हैं, उत्कृष्ट धर्मध्यान वा शुक्ल ध्यानसे उत्पन्न होते हैं, वा पञ्च परमेष्ठी की विशेष सेवा करनेसे होते हैं, आत्माके शुद्धस्वरूप में लीन होने से होते हैं और उत्कृष्ट धर्म धारण करने से होते हैं।

आगे तीर्थंकर होनेका कारण बताते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो! मे।**
प्रबध्यते तीर्थंकरस्य पुण्यम्॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाये कि किस २ पुण्यकार्यके करनेसे तीर्थंकर होने योग्य पुण्यकर्मका बन्ध होता है?

उत्तर—**संसारसिंधौ पतितान् जनान् हि।**
बोध्दत्य यत्नो भुवि यैः कृतश्च॥
शुद्धे सदा स्थापयितुं स्वधर्मे।
तैर्बध्यते तीर्थंकरस्य पुण्यम्॥ १८२॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी पुरुष संसाररूपी महासागरमें पड़े हुए जीवोंको उठाकर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में स्थापन करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे पुरुष तीर्थंकर होने योग्य पुण्य प्रकृति का बन्ध करते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष शुद्ध सम्यग्दृष्टी होते हैं तथा सोलह कारण भावनाओंका चिंतवन करते रहते हैं और जो समस्त जीवों के दुःखोंको दूर करनेकी तथा सबको मोक्ष प्राप्त करा देनेकी भावना रखते हैं ऐसे जीवोंके तीर्थंकर प्रकृतिका वन्ध होता है। अपने सम्यग्दर्शनको निर्मल रखना, पञ्च परमेष्ठियोंकी विनय करना शील और व्रतोंको अतिचार रहित पालन करना, निरन्तर ज्ञानका अभ्यास करना, संसार से भयभीत रहना, शक्तिके अनुसार तप करना शक्तिके अनुसार दान देना, साधुओंकी सेवा करना, वैया-वृत्य करना, अरहंतदेवकी भक्ति करना, आचार्य परमेष्ठीकी भक्ति करना, उपाध्यायोंकी भक्ति करना, शास्त्रकी भक्ति करना, छह आवश्यकों को कभी न छोड़ना, धर्मकी प्रभावना करना और धर्मात्माओंमें अनुराग रखना ये सोलह भावनाएं हैं। इनका चिंतन करनेसे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध होता है तथा उसके उदयसे समव-सरणकी विभूति प्राप्त होती है, आठ प्रातिहार्य और चौंतीस अतिशय प्राप्त होते हैं और सब इन्द्र आकर उनकी सेवा करते हैं। यह सब विभूति केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होती है और फिर वे अपनी पहले भवकी भावनाके अनुसार समस्त जीवोंको मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं और अनेक जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाकर उनका कल्याण करते हैं।

आगे आचार्य इस अध्याय का उपसंहार करते हैं।

स्वशुद्धचिद्रूपपदाश्रितेन ।
श्रीकुन्थुनाम्ना वरसूरिणेति ॥

शुभोपयोगस्य मयाक्षसौख्य—
दातुः स्वरूपः कथितोऽक्षशान्त्यै ॥१८३॥

अर्थ—अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपमें लीन रहनेवाले मुक्त श्रेष्ठ आचार्य श्री कुन्थुसागरने इन्द्रिय और मनको शांत वा वश करने के लिये इन्द्रियोंको सुख देनेवाले शुभोपयोग का स्वरूप कहा है।

भावार्थ—इस अध्यायमें शुभोपयोगका स्वरूप कहा है। शुभोपयोगके फलसे इन्द्रियोंको सुख प्राप्त होता है वा ऐहिक सामग्री प्राप्त होती है। उस इन्द्रियसुख वा ऐहिकसामग्री से विरक्त होनेके लिये वा इन्द्रिय और मन को वशमें करनेके लिये इन्द्रियोंका विजय करनेके लिये इस अध्यायका निरूपण किया है।

इति आचार्यश्रीकुन्थुसागर विरचिते भावत्रय फलप्रदर्शिनामके ग्रंथे शुभोपयोगफल वर्णनो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित भावत्रयफल प्रदर्शी नामके ग्रंथ की 'धर्मरत्न' पं. लालाराम शास्त्री कृत हिंदी भाषा टीकामें शुभोपयोग के फलको वर्णन करनेवाला यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय ।

शुद्धोपयोग का वर्णन

आगे शुद्धस्वरूप का निरूपण करते हैं ।

निर्द्वन्दं निर्मदं सिद्धं शान्तं नत्वा शिवप्रदम् ।
शुद्धोपयोगरूपं हि वक्ष्ये शुद्धात्मसिद्धये ॥ १८४ ॥
यद्विना जन्तुनो जन्म ब्रवीति दुःखदं वृथा ।
चिदानन्दालयस्यैवं स्वामी श्रीकुन्थुसागरः ॥ १८५ ॥

अर्थ—जो सिद्ध भगवान् समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित हैं, मद-रहित हैं, अत्यन्त शांत हैं और मोक्षको देनेवाले हैं ऐसे सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार करके मैं चिदानन्दमय अपने शुद्ध आत्माका स्वामी आचार्य श्रीकुन्थुसागर आत्माकी शुद्धता प्राप्त करनेके लिये शुद्धोपयोगका स्वरूप निरूपण करता हूं । क्योंकि उसके विना जीवोंका जन्म दुःख देनेवाला और व्यर्थ समझा जाता है ।

भावार्थ—आत्माका शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्षका कारण है । यही कारण है कि शुद्धोपयोगके विना इस जीव का जन्म लेना और विशेष कर मनुष्यपर्यायका धारण करना व्यर्थ और दुःखदायी कहलाता है । ऐसे शुद्धोपयोगका स्वरूप इस अध्याय में निरूपण किया जाता है ।

आगे अनुभूतिके स्वामी होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! ना।**
स्वात्मानुभूतेश्च पतिः प्रियः स्यात् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किसकिस पुण्यकार्यके करनेसे यह जीव अपने शुद्ध आत्माकी अनुभूति का स्वामी वा प्रिय होजाता है।

उत्तर—**स्वानन्दतुष्टस्य मुनेः प्रशंसा।**
कृता क्षमादा निजतत्त्वचर्चा ॥
शिवप्रदा येन निजात्मशुद्धिः।
स्वात्मानुभूतेः स पतिः प्रियः स्यात् ॥१८६॥

अर्थ—जो जीव अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें संतुष्ट रहनेवाले मुनियोंकी प्रशंसा किया करता है, जो उत्तमक्षमाको प्राप्त करानेवाली अपने आत्माके शुद्धस्वरूपकी चर्चा किया करता है जो मोक्ष देनेवाली अपने आत्माकी शुद्धि किया करता है ऐसा पुरुष अपने शुद्ध आत्मा की अनुभूति का प्रियपति होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्धात्मानुभूतिका स्वरूप समझता है और उसकी महिमा को जानता है, वही मनुष्य शुद्धात्मा में लीन रहनेवाले मुनियोंकी प्रशंसा किया करता है, उनकी स्तुति किया करता है, उनकी वैयावृत्य किया करता है और उनकी सेवा भक्ति किया करता है। इसी प्रकार वही मनुष्य अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप की चर्चा किया करता है, उनके गुणोंको जाननेका प्रयत्न किया करता है अपने आत्मा को शुद्ध करनेका वा कर्मोंके

नाश करनेका प्रयत्न किया करता है और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त होनेका प्रयत्न किया करता है ऐसा ही पुरुष अपने आत्मा की शुद्धानुभूति का स्वामी होता है।

आगे मन वचन कायकी सरलताका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—ब्रवीति यस्मान्मनसा यथा यः।
करोति वा चिन्तयतीह कस्मात् ॥

अर्थ—यह मनुष्य जैसा मनसे चिंतवन करता है वैसा ही कहता है और वैसा ही करता है इसका क्या कारण है?

उत्तर—द्रष्टुः प्रबोध्दुः स्वपरात्मनो वा।
द्वेषस्य रागस्य विनाशकर्तुः ॥
संगः कृतो येन निजात्मनो हि।
ब्रूयाद् यथा सौ सुकृतिं स कुर्यात् ॥१८७॥

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको देखता है वा जानता है और जिससे रागद्वेष दोनों को नष्ट कर दिया है ऐसे महापुरुषों की जो संगति करता है अथवा जो अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहता है, ऐसा पुरुष जो मनमें चिंतवन करता है वही कहता है और जो कहता है वही करता है।

भावार्थ—जिसका मन, वचन, काय सरल होता है, वा जिसके हृदयमें किसी प्रकारकी मायाचारी नहीं होती, किसी प्रकार का लोभ नहीं होता, किसी प्रकारका क्रोध नहीं होता और किसी प्रकारका मान नहीं होता, वही पुरुष जो चिंतवन करता है वही कहता है तथा वही करता है। परंतु मन, वचन, कायका सरल

होना अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्य शुद्ध आत्माका स्वरूप समझता है और इसीलिये उसमें लीन रहता है, अथवा जो शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवालोंकी संगति करता है. उनकी सेवा भक्ति करता है ऐसे पुरुषका ही मन, वचन, काय सरल रहता है।

आगे मनःपर्यय ज्ञान का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि पुण्याच्च वद प्रभो ! स्या-**
ज्जीवो मनःपर्ययबोधधारी ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस पुण्यकार्यके करने से इस जीव को मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

उत्तर—**ध्यानं च धर्म्यं सुतपः प्रवर्तत् ।**
यो वा चिदानन्दरसेन तृप्तः ॥
रत्नत्रयी वा समशान्तिमूर्तिः ।
स स्यान्मनःपर्ययबोधधारी ॥ १८८ ॥

अर्थ—जो मुनि धर्मध्यानका चिंतवन करते हैं, श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं अथवा शुद्ध चिदानन्दके विज्ञानमय रसमें लीन रहते हैं, जो रत्नत्रयको धारण करते हैं और समता तथा शांतिकी परम मूर्ति हैं ऐसे परम मुनियोंके मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है।

भावार्थ—जो ज्ञान दूसरेके मनमें विचार किए हुए पदार्थों को प्रत्यक्ष जान ले उसको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह मनःपर्यय ज्ञान निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और निर्मल सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाले परम मुनियों के ही होता है। विपुलमति मनःपर्ययको धारण करनेवाले उसी भवसे मोक्ष को जाते हैं तथा

ऋजुमति मनःपर्यय को धारण करने वाले उस भवसे भी जाते हैं और कभी कभी एक दो भव धारण करके भी मोक्ष जाते हैं। जो मुनि घोर तपश्चरण करते हैं और ध्यान में लीन रहते हैं आत्माके शुद्ध स्वभाव में लीन रहते हैं अथवा परम शांति और परम समताको धारण करते हैं ऐसे मुनियोंके मनःपर्ययज्ञान होता है।

आगे केवलज्ञान होने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि हेतोश्च वद प्रभो ! मे।**
जीवो भवेत्केवलबोधधारी ॥

अर्थ—हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किस किस कार्यके करने से केवलज्ञान प्राप्त करता है?

उत्तर—**दृग्बोधचारित्रमये स्वरूपे।**
तिष्ठेन्निजानन्दपदे पवित्रे ॥
ज्ञातापि दृष्टाखिलवस्तुनो यः।
स स्यात्कृती केवलबोधधारी ॥ १८६ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी भव्य मुनि परम पवित्र रत्नत्रयस्वरूप आत्मामें सदा लीन रहते हैं वा अपने आत्मा के शुद्धस्वभावमें लीन रहते हैं तथा जो समस्त पदार्थोंके ज्ञाता दृष्टा हैं ऐसे परमोत्कृष्ट मुनि अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—केवलज्ञान की प्राप्तिके लिए शुक्लध्यान कारण है। विना शुक्लध्यानके केवलज्ञान कभी नहीं होता। इसका भी कारण यह है कि मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मके नष्ट होने पर केवलज्ञान होता है

तथा ये सब कर्म शुक्लध्यान से ही नष्ट होते हैं। बिना शुक्लध्यानके घातिया कर्म कभी नष्ट नहीं होते हैं। ऐसा यह शुक्लध्यान श्रेणी चढ़नेके अनन्तर होता है। श्रेणी चढ़ने में वे मुनि ध्यानस्थ ही होते हैं और शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं, शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं, अपने आत्मा को अन्य समस्त पदार्थोंका ज्ञाता दृष्टा मानते हुए सबसे भिन्न मानते हैं। ध्यान में वे केवल आत्मामय रहते हैं अथवा रत्नत्रयमय शुद्धात्म स्वरूप रहते हैं। ऐसे मुनि अपने शुक्लध्यानरूपी महाअग्निके द्वारा कर्मोंको नाश करते जाते हैं और गुणस्थानों को पार करते जाते हैं। इस प्रकार वे बारहवें गुणस्थानके अन्तमें घातियाकर्मोंको नाशकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। आयु पूर्ण होने पर वे अघातियाकर्मों को नाश कर डालते हैं और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

आगे आत्माके शुद्धस्वरूपमें अनुराग होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**कस्माद्धि हेतोश्च वद प्रभो ! मे।**
प्रीतिः पवित्रे स्वपदे भवेद्धि ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस किस कारणसे आत्माके पवित्र शुद्धस्वरूपमें अनुराग उत्पन्न होता है ?

उत्तर—**दृग्वृत्तमोहक्षय संभवा या।**
स्वानन्दतुष्टे सुगुरौ प्रतीतिः ॥
श्रद्धा स्वधर्मे भवतीह पश्चात्।
स्वानन्दसाम्राज्यपदे प्रवेशः ॥ १६० ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय वा चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय

क्षयोपशम होनेपर सबसे पहले अपने शुद्ध आत्मामें संतुष्ट रहनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंमें विश्वास होता है अथवा भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए अहिंसामय जैनधर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है। तदनन्तर वह जीव चिदानन्दमय आत्माके शुद्ध स्वरूपमें अनुराग कर उसमें प्रवेश करने लगता है।

भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे वा क्षयोपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे देव शास्त्र गुरुमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए सप्त तत्त्वोंमें वा छहों द्रव्योंमें श्रद्धा उत्पन्न होती है मोक्षमार्गमें श्रद्धा उत्पन्न होती है और त्यागधर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है। तदनन्तर वह आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझने लगता है तथा उसके शुद्ध स्वरूपको उपादेय वा ग्रहण करने योग्य समझता हुआ उससे भिन्न शरीर, परिग्रह, कुटुंब, धन आदि समस्त पदार्थों को अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न और इसीलिए त्याग करने योग्य हेय समझ लेता है। तदनन्तर चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशमादिक होने पर हेय पदार्थों का त्याग कर देता है और उपादेय स्वरूप अपने शुद्ध आत्माको ग्रहण करने लगता है वा उसमें प्रवेश करने लगता है। बस यहांसे ही उसका सम्यक्चारित्र प्रारम्भ होता है और वह धीरे २ पूर्ण चारित्र को धारण करता हुआ केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आगे स्वभावसे ही शुद्ध आत्मामें लीन होनेका कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—कस्य प्रसादाद्धि वद प्रभो ! मे।

स्वात्मा स्वभावात्स्वपदे प्रतिष्ठेत् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव किसके प्रसादसे स्वभावसे ही अपने आत्मामें लीन रहता है।

उत्तर—**निजान्यवेदी च दयार्द्रचित्तो ।**
यः पूर्वतो वा सुसमाधिनिष्ठः ॥
चारित्रमोहादिविशेषनाशात् ।
स्वात्मा स्वभावात्स्वपदे प्रतिष्ठेत् ॥ १९१ ॥

अर्थ—जो आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, अन्य जीवोंके स्वरूपको वा पुद्गलादिक अन्य समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जानता है, जिसका हृदय सदाकाल दयासे परिपूर्ण रहता है और जो पहले ही जन्मसे समाधि वा ध्यानमें लीन रहता है ऐसा आत्मा चारित्र मोहनीय आदि कर्मोंके विशेष नाश होनेसे स्वभावसे ही अपने आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन हो जाता है।

भावार्थ—इस आत्मा को अपने ही आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन होनेके लिये सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है। विना सम्यग्दर्शन के न तो सम्यग्ज्ञान होता है, न आत्माका यथार्थ स्वरूप जाना जाता है और न अन्य पदार्थों का यथार्थस्वरूप जाना जाता है। विना सम्यग्दर्शन के जीवों की दया का पालन भी नहीं होता और न समाधिमरण वा शुभध्यान होता है। जब सम्यग्दर्शनपूर्वक ये ऊपर लिखे हुए सब साधन मिल जाते हैं और उस समय चारित्र मोहनीय कर्म का विशेष क्षय हो जाता है तब यह आत्मा स्वभावसे ही अपने आत्मा में लीन हो जाता है। यह मोहनीयकर्म ही आत्मा को अपने

स्वभावमें स्थिर नहीं होने देता, जब दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय दोनों प्रकारका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है तब यह आत्मा अपने आप अपने आत्मामें स्थिर होकर आत्माके यथार्थ स्वभावको प्राप्त कर लेता है और फिर शीघ्र ही कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आगे शुद्धाशुद्ध निश्चयसे सप्त तत्वोंका निरूपण करते हुए अपने शुद्ध आत्मा को समस्त तत्त्वोंसे भिन्न दिखलाते हैं।

चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थदृष्ट्या।
रागादिकर्ता व्यवहारदृष्टया॥
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तचिदात्मचिह्नं।
चिन्मात्रमूर्तिर्भवतान्ममात्मा॥ १९२॥

अर्थ—यदि शुद्धनिश्चयसे देखा जाय तो यह आत्मा अत्यन्त शुद्ध-चैतन्यस्वरूप है, यदि व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो राग-द्वेष आदि विभाव परिणामोंका कर्त्ता है। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनयसे तथा अशुद्ध निश्चयनय से चैतन्यस्वरूप आत्माके चिह्न बतलाये हैं इनको जानकर मेरा यह आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप बना रहे।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके आधीन होकर अनेक प्रकारके शरीर धारण करता है। कर्मके परवश होकर ही नरकमें जाता है, स्वर्गमें जाता है, तिर्यंच होता है वा मनुष्य होता है। कर्मोंके आधीन होकर ही यह चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है। वहां पर यह अपने शरीर के द्वारा कुछ

न कुछ क्रियायें करता ही रहता है। कभी घट बनाता है, कभी वस्त्र बनाता है, कभी भोजन बनाता है, कभी यात्रा करता है, कभी किसी को मारता है, कभी बोझा ढोता है, वा अन्य अनेक कार्य किया करता है। यद्यपि ये सब क्रियायें शरीरके द्वारा होती हैं तथापि इनका करनेवाला जीव ही माना जाता है और व्यवहारदृष्टिसे माना जाता है। इसलिए व्यवहारदृष्टिसे यह जीव घट पट आदि का कर्त्ता कहा जाता है। यदि अशुद्ध निश्चय नय से देखा जाय तो ये सब क्रियायें शरीर से होती हैं, आत्मा तो केवल राग, द्वेष, इच्छा, वा क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विकारोंका करनेवाला है, आत्मामें इन विकारोंके होनेसे ही ये घट पटादिक पदार्थ बनाये जाते हैं। इसलिए अशुद्धनिश्चयनयसे यह रागादिक विकारोंका कर्त्ता है। तथा यदि शुद्धनिश्चय से देखा जाय तो यह आत्मा शुद्धस्वरूप है और इसीलिए वह शुद्धभावोंका कर्त्ता है। शुद्धनिश्चयनयसे यह जीव अशुद्ध भावोंका कर्त्ता नहीं है। जिस प्रकार इस जीवको शुद्ध अशुद्ध वा व्यवहारदृष्टिसे कर्ता बतलाया है उसी प्रकार इन्हीं तीनों नयोंसे भोक्ता समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार यह जीव व्यवहारदृष्टिसे श्वासोच्छ्वासादिक दश प्राणोंसे जीवित रहता है, निश्चयनय से शुद्धचैतन्यस्वरूप प्राणोंसे जीवित रहता है। व्यवहारदृष्टिसे चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन वा अवधिदर्शन को धारण करता है तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधिको धारण करता है और निश्चयनयसे केवल

दर्शन और केवलज्ञानको धारण करता है। व्यवहारदृष्टिसे संसारी है, निश्चयदृष्टि से सिद्धोंके समान है। इस प्रकार भिन्न भिन्न नयोंसे जीव अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। इन सब को समझकर अपने आत्मा को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। क्यों कि आत्मा के शुद्ध होने पर ही संसार की समस्त व्याधियां और चारों गतियोंका परिभ्रमण मिटता है। जब आत्मा शुद्ध हो जाता है तब इस आत्मा के समस्त विकार नष्ट होजाते हैं और यह आत्मा शुद्ध चिदानंदमय वा परब्रह्मस्वरूप अवस्थाको प्राप्त होजाता है और फिर वह कभी भी इस संसार में नहीं आता अर्थात् फिर कभी भी शरीर धारण नहीं करता। फिर तो अनंतानंत कालतक अनंत सुख मय बना रहता है। मेरा भी यह आत्मा ऐसे ही चिदानन्दमय अवस्था को प्राप्त हो ऐसी मैं सदाकाल भावना रखता हूं।

आगे अजीव पदार्थों को बतलाते हुए उन सबसे अपने शुद्ध आत्मा की भिन्नता दिखलाते हैं।

धर्मोऽप्यधर्मोऽस्ति नभश्च कालो।
ह्यजीवरूपो भुवि पुद्गलोऽपि॥
नाजीवरूपोऽपि कदा भवामि।
चिन्मात्रमूर्तिः खलु किन्तु शुद्धः॥ १६३॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये सब अजीव पदार्थ हैं, यह मेरा आत्मा कभी भी अजीवरूप न हो किंतु सदाकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप बना रहे, ऐसी मैं भावना करता हूं।

भावार्थ—आकाश अनंत है इसके मध्यभागमें लोकाकाश है

जो घनवात घनोदधिवात और तनुवातके आधार है। इस लोका-काश में सर्वत्र व्याप्त होकर धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भरे हुए हैं, जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने कालाणु हैं। अनंतानंत जीव हैं और उनसे भी अनंतानंत पुद्गल हैं। इनमेंसे जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ क्रियावान हैं अर्थात् इनमें चलने की शक्ति है। जीव में तो चलने की शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है तथा पुद्गलमें भी वायु बिजली आदि में दिखाई देती है। जीवोंमें जैसे वृक्षादिक नहीं चलते उसी प्रकार पुद्गलोंमें भारी पुद्गल नहीं चलते। वे ही पदार्थ हलके होनेपर चलने लगते हैं जैसे लकड़ी नहीं चलती परंतु जल जानेपर उसके बहुतसे परमाणु उड़कर चले जाते हैं, जिनमें रूप,रस,गंध,स्पर्श हो उनको पुद्गल कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, शब्द, आदि सब पुद्गल हैं इनमें सूक्ष्म वा स्थूलरीतिसे रूपा-दिक चारों गुण पाये जाते हैं। जैसे वायुमें रूप दिखाई नहीं देता परंतु जब दो प्रकार की वायु मिलाकर पानी बना लेते हैं तब उसमें रूप दिखाई देने लगता है। यदि वायुमें रूप नहीं होता तो पानी में कहां से आता इससे साबित होता है कि वायु में भी रूप है। इसी प्रकार सबमें समझना चाहिये। इन जीव पुद्गलों को जो गमन करने में सहायता देता है उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। जो ठहरने में सहा-यता देता है उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं। जो इन समस्त पदा-र्थोंको ठहरने के लिये स्थान देता है उसको आकाश कहते हैं। तथा जो इन समस्त पदार्थों की अवस्था को बदलता रहता है उस को काल द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार धर्म, अधर्म आकाश काल

और पुद्‌गल ये पांचों तत्व अजीवतत्व कहलाते हैं। आत्मद्रव्य इन सबसे सर्वथा भिन्न है आत्मा चैतन्य स्वरूप है ज्ञान दर्शन मय है और ये पांचों तत्व चैतन्यस्वरूप से सर्वथा भिन्न वा रहित हैं तथा ज्ञानदर्शनसे सर्वथा भिन्न वा रहित हैं। आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है तथा ये पांचों तत्व ज्ञेय और दृश्य हैं। इसलिये मेरा आत्मा अजीव तत्वरूप कभी नहीं हो सकता। मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा है, रत्नत्रयस्वरूप है, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मस्वरूप है, पूर्ण चारित्र स्वरूप है, और कर्मों से रहित अत्यन्त शुद्ध स्वरूप है। ऐसा मेरा आत्मा सदाकाल ऐसा ही बना रहे और अनन्तकाल तक के लिये अनंत सुख मय हो जाय ऐसी मैं भावना करता हूं।

आगे आस्रव तत्व का निरूपण करते हुए अपने आत्माको उससे सर्वथा भिन्न बतलाते हैं।

अशुद्धजीवस्य च पुद्‌गलस्य।
समागमादास्रवतत्त्वजन्म ॥
नाशुद्धजीवोऽस्मि न पुद्‌गलोऽस्मि।
भिन्नस्ततश्चास्रवतत्त्वतोऽहम् ॥ १९४ ॥

अर्थ—अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्‌गल के मिलनेसे आस्रव तत्व उत्पन्न होता है। मेरा यह आत्मा न तो अशुद्धजीवस्वरूप है और न अशुद्धपुद्‌गल स्वरूप है। इसीलिये मेरा यह आत्मा आस्रव तत्व से सर्वथा भिन्न है।

भावार्थ—कर्मोंके आने को आस्रव कहते हैं अथवा जिन

कारणोंसे कर्म आते हैं ऐसे मनवचनकाय की क्रियारूप योगों को भी आस्रव कहते हैं। अथवा मिथ्यादर्शन, अविरत, प्रमाद, योग आदि बन्धके कारणोंको भी आस्रव कहते हैं। यह आस्रव अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गलों से उत्पन्न होता है। इसका भी कारण यह है कि जब इस अशुद्ध जीवके परिणाम राग द्वेषरूप होते हैं तब उन रागद्वेषके निमित्तसे कार्मण वर्गणाएं कर्मरूप परिणत होकर आत्माके साथ मिल जाती हैं। उन कार्मण वर्गणाओंका आत्माके साथ मिल जाना तो बन्ध है और कर्मरूप परिणत होना आस्रव है। रागद्वेष रूप परिणाम योगोंकी क्रियाओंसे ही होते हैं। इसलिए योग भी आस्रव कहलाते हैं। अथवा राग द्वेष रूप परिणाम भी भावास्रव कहलाते हैं। परन्तु यह सब आस्रव हैं पौद्गलिकरूप क्योंकि राग द्वेष भी कर्मों के उदय से होते हैं इसलिए वे भी पौद्गलिक हैं। मन वचन कायकी क्रिया पुद्गलरूप मन, वचन, कायसे ही होती है। इसलिए वह भी पौद्गलिक ही है तथा कार्मण वर्गणाओंका कर्मरूप परिणत होना पौद्गलिक है ही। इस प्रकार आस्रव तत्त्व पौद्गलिक है और अशुद्ध जीवमें होता है क्योंकि अशुद्ध जीवमें ही राग द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं। शुद्ध जीवमें रागद्वेष कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। इसलिए आस्रव तत्त्व अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गलसे ही उत्पन्न होता है। परंतु मेरा यह शुद्धस्वरूप आत्मा न तो मन, वचन, कायकी क्रियारूप परिणत होता है, न रागद्वेषरूप परिणत होता है और न कर्मों को ग्रहण करता है। इसलिये मेरा यह शुद्ध आत्मा

आस्रवतत्व से सर्वथा भिन्न है। आस्रवतत्व संसार का कारण है और मेरा शुद्ध आत्मा मोक्षस्वरूप है। इस प्रकार भी मेरा शुद्ध आत्मा आस्रवतत्वसे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार की भावना रखना शुद्धोपयोग कहलाता है।

आगे बंधतत्व का स्वरूप बतलाते हुए उससे अपने शुद्ध आत्मा को सर्वथा भिन्न बतलाते हैं।

अशुद्धजीवस्य च पुद्गलस्य।
बन्धो मिथः स्यान्नयमानसिद्धः॥
नाऽशुद्धजीवोऽस्मि न पुद्गलोऽस्मि।
बन्धस्ततो मे च कथं समं स्यात् ॥१६५॥

अर्थ—अशुद्धजीव और अशुद्ध पुद्गलोंका परस्पर मिल जाना प्रमाण और नयों से सिद्ध होनेवाला बंधतत्व कहलाता है। परन्तु मैं न तो अशुद्धजीव हूं और न अशुद्धपुद्गल हूं। अतएव मेरे साथ यह बंधतत्व कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ—बंधतत्व तो सर्वथा पौद्गलिक ही है। क्यों कि विना कार्मणवर्गणाओं के बंध होता ही नहीं है। जब कार्मण-वर्गणाएं कर्मरूप परिणत होकर आत्मा के अशुद्धप्रदेशोंके साथ मिल जाती हैं तब उसको बंध कहते हैं। तथा यह बंध जिन परिणामों से होता है उन परिणामोंको भाव-बंध कहते हैं। यह भाव राग-द्वेषरूप पड़ता है। राग-द्वेपरूप परिणाम कर्मों के उदय से होते हैं तथा कर्मविशिष्ट आत्मामें ही होते हैं। इसलिये वे भी

पौद्गलिक ही कहलाते हैं। इस प्रकार भावबंध वा द्रव्यबंध दोनों ही पौद्गलिक सिद्ध हो जाते हैं। परंतु मेरा यह शुद्ध आत्मा तो न भावबंधरूप है और न द्रव्यबंधरूप है। वह दोनोंसे सर्वथा भिन्न है। मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और बंधतत्व पौद्गलिक स्वरूप है। मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानदर्शनमय है, रत्नत्रय स्वरूप है, और सबका ज्ञाता द्रष्टा है, परंतु बंधतत्व न ज्ञाता द्रष्टा है, न रत्नत्रय स्वरूप है और न ज्ञानदर्शनमय है। अतएव मेरा और बंधतत्वका कभी कोई संबंध नहीं हो सकता इस प्रकारके शुद्धभाव रखना शुद्धोपयोग कहलाता है ऐसा शुद्धोपयोग धारण करने से कर्मों के बंधका सर्वथा नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आगे—संवरतत्वका निरूपण करते हुए अपने शुद्ध आत्माको उससे सर्वथा भिन्न बतलाते हैं।

मिथ्यात्वभावादिनिरोधतः स्यात्।
सुखप्रदं संवरतत्त्वजन्म ॥
चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थतोऽस्मि।
ततो न मे संवरतत्त्वजन्म ॥ १९६ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अविरत आदि भावों का निरोध करने से सुख देनेवाला संवरतत्व उत्पन्न होता है। परंतु परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। इसलिये मेरे आत्मा में संवर तत्त्व कैसे उत्पन्न हो सकता है?

भावार्थ—आस्रव का निरोध करना संवर है। वह दो प्रकारका है, एक भावसंवर और दूसरा द्रव्यसंवर। आत्मा के जिन

परिणामों से आस्रव रुकता है वा आते हुए कर्म रुकते हैं उन परिणामोंको भावसंवर कहते हैं तथा उस आस्रवका जो रुक जाना है उसको द्रव्य संवर कहते हैं। यह दोनों प्रकार का संवर कर्मविशिष्ट अशुद्ध आत्माके ही होता है। क्योंकि आस्रव का रुकना ही संवर है तथा कर्मोंका आस्रव किसी न किसी कर्म के उदय होने पर ही होता है। विना किसी कर्म के उदय के आस्रव कभी नहीं हो सकता। ऐसे पौद्‌गलिकरूप आस्रव के रुकनेसे जो संवर होता है उसको भी पौद्‌गलिक रूप ही मानना पड़ता है। ऐसे संवर तत्व शुद्ध आत्मा में नहीं हो सकता। क्योंकि शुद्ध आत्मा में रागद्वेषरूप आस्रवको उत्पन्न करनेवाले अशुद्धभाव ही उत्पन्न नहीं हो सकते, फिर भला रुकेगा क्या? शुद्ध आत्मामें जब अशुद्ध भाव ही नहीं है तब उनका रुकना वा रुकजानारूप संवरतत्व ही कैसे हो सकता है? इससे सिद्ध होता है कि शुद्ध आत्मा में संवरतत्व कभी नहीं हो सकता। यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो मेरा आत्मा भी अत्यन्त शुद्ध है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ज्ञान दर्शन मय है, ज्ञाता द्रष्टा है और सिद्धों के समान है तथा संवर-तत्व इससे विपरीत है। वह न तो चैतन्यस्वरूप है, न ज्ञाता द्रष्टा है, न ज्ञानदर्शनमय है, न रत्नत्रयस्वरूप है और न शुद्ध आत्मस्वरूप है। इसलिये वह संवरतत्व मेरे शुद्ध आत्मा से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकारके अपने परिणाम रखना शुद्धोपयोग कहलाता है।

आगे निर्जरातत्वका स्वरूप बतलाते हुए उससे अपने शुद्ध आत्मा को सर्वथा भिन्न बतलाते हैं।

सद्दृष्टिजीवाच्च कुपुद्गलस्य ।
वियोगतो निर्जरतत्त्वजन्म ॥
चिद्रूपमूर्तिः परमार्थतोऽस्मि ।
ततो न मे निर्जरतत्त्वजन्म ॥ १६७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिजीवके कर्मरूप पुद्गलवर्गणाओं का नष्ट हो जाना वा उस आत्मासे उन कर्मोंका संबंध हट जाना निर्जरा तत्व कहलाता है। परंतु मेरा शुद्ध आत्मा परमार्थदृष्टि से शुद्ध चैतन्यस्वरूप है इसलिये मेरे आत्मा से निर्जरातत्त्व कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।

भावार्थ—कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है। वह दो प्रकार का है एक भाव निर्जरा और दूसरी द्रव्यनिर्जरा। आत्माके जिन परिणामोंसे निर्जरा होती है उन परिणामोंको भाव निर्जरा कहते हैं तथा जो कर्मों का क्षय होता है उसको द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। अथवा सविपाक अविपाक के भेद से निर्जरा के दो भेद हैं। जो कर्म अपना फल देकर क्षय होते हैं उसको सविपाकनिर्जरा कहते हैं तथा जो कर्म तपश्चरण आदि के निमित्त से विना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं उसको अविपाकनिर्जरा कहते हैं। यह सब निर्जरा पौद्गलिक है। क्योंकि द्रव्यनिर्जरामें तो कर्मोंका ही नाश होता है, तथा कर्मों के पौद्गलिक होने से वह द्रव्यनिर्जरा भी पौद्गलिक ही सिद्ध होती है। भाव निर्जरा भी अशुद्ध जीवके ही होती है। जो जीव कर्मविशिष्ट है उसी के भावनिर्जरा हो सकती है। तथा कर्मविशिष्ट जीव के जो परिणाम होते हैं वे कर्मों के

निमित्तसे ही होते हैं इसलिये वे भी पौद्गलिक ही कहलाते हैं। इस प्रकार सब प्रकारकी निर्जरा पौद्गलिक सिद्ध होती है। परन्तु मेरा यह आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है इसलिये तत्त्वसे सर्वथा भिन्न है। मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनमय है, निर्जरा इससे विपरीत पौद्गलिक वा जड़स्वरूप है। यह आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है, निर्जरा इससे विपरीत पौद्गलिक वा जड़स्वरूप है। मेरा आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है निर्जरा तत्त्व ज्ञाता द्रष्टासे विपरीत पौद्गलिक है। इस प्रकार चैतन्य स्वरूप मेरे शुद्ध आत्मासे निर्जरातत्त्व सर्वथा भिन्न है। इस प्रकारके परिणाम रखना शुद्धोपयोग कहलाता है।

आगे मोक्षतत्त्व का निरूपण करते हुए उससे अपने शुद्ध आत्मा को सर्वथा भिन्न दिखलाते हैं।

निर्ग्रन्थसाधोर्भुवि पुद्गलस्य।
मोक्षः किलात्यन्तवियोगतः स्यात्॥
चिद्रूपमूर्तेर्न च मे वियोगः।
संयोगवार्ता क्रियते कथं हि ॥१६८॥

अर्थ—वीतराग निर्ग्रंथ साधुओंके जो कर्मरूप पुद्गलोंका अत्यन्त वियोग हो जाता है उसको मोक्ष कहते हैं परन्तु मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। इसलिए उससे किसी भी कर्मके वियोग होनेकी संभावना भी नहीं हो सकती, क्योंकि शुद्ध आत्मा में कर्मोंका संयोग है ही नहीं। जहांपर कर्मोंका संयोग ही नहीं है वहां पर कर्मोंके संयोगकी बात ही नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—इस आत्मासे समस्त कर्मोंका नाश हो जाना

मोक्ष है वह भी दो प्रकार है। एक भावमोक्ष और दूसरा द्रव्यमोक्ष आत्माके जिन परिणामोंसे समस्त कर्म नष्ट होते हैं उन परिणामों को भावमोक्ष कहते हैं तथा उन समस्त कर्मोंका जो नष्ट हो जाना है उसको द्रव्यमोक्ष कहते हैं। यह दोनों प्रकारकी मोक्ष कर्मविशिष्ट आत्माके ही होती है। जो आत्मा अत्यन्त शुद्ध है कर्मोंसे सर्वथा रहित है उससे किसीका भी वियोग नहीं होसकता। उसके जब कर्म ही नहीं है तब वियोग वा नाश किसका होगा। मेरा आत्मा सर्वथा शुद्ध और कर्मों से सर्वथा रहित है इसलिए मोक्षतत्त्व भी मुझसे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकारके शुद्ध परिणामों का होना शुद्धोपयोग कहलाता है।

आगे सप्ततत्त्वोंके कथनका उपसंहार करते हैं।

तत्त्वस्वरूप कथितं मयेति।
त्यागाय हेयस्य चितो ग्रहाय॥
समस्ततत्त्वानि विवर्ज्य योगात्।
गृह्णातु योगी च निजात्मतत्त्वम्॥१९९॥

अर्थ—इस प्रकार हेय पदार्थोंके त्यागके लिए और शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा को ग्रहण करनेके लिये मैंने यह सातों तत्त्वोंका स्वरूप निरूपण किया है। अत एव योगियोंको अपने मन, वचन, कायसे समस्त तत्त्वोंका त्याग कर केवल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण कर लेना चाहिए।

भावार्थ—ऊपर अनुक्रमसे सातों तत्त्वोंका स्वरूप दिखलाया है और उनमें यह भले प्रकार दिखा दिया है कि अपने शुद्ध चैतन्य-

स्वरूप आत्माके सिवाय अन्य समस्त तत्त्व त्याग करने योग्य हैं क्योंकि वे समस्त तत्त्व अपने शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। अत एव शुद्धोपयोग धारण करनेवाले वा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेवाले मुनिराजों को मन, वचन, काय तीनों योगोंसे समस्त तत्त्वोंका त्याग कर देना चाहिए और अपने शुद्धस्वरूप आत्माको ग्रहण कर उसीमें सदा लीन बने रहना चाहिए। आत्मा के अनन्तसुखका यही एक साधन है। इस प्रकार सातों तत्त्वोंका निरूपण किया।

अब आगे याचना करने पर भी धनादिककी प्राप्ति क्यों नहीं होती, यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—कुर्वन्त एवापि धनादियांचां।
कथं धनादिं न च ते लभन्ते॥

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ये जीव धनादिक की याचना करते हैं और फिर भी उनको धनादिक की प्राप्ति नहीं होती इसका क्या कारण है?

उत्तर—ये केपि जीवाश्च यथैव बीजं।
वपन्ति भूमौ समये हि तेऽपि॥
तादृक् फलं निश्चयतो लभन्ते।
न केवलं याचनतः कदापि॥२००॥
ज्ञात्वेति भक्त्या सुकृतिं कुरुष्व।
कौ केवलं याचक एव न स्याः॥
ततो भवेदेव तवेष्टसिद्धि-।
र्नश्येत्तथाशा सुखशान्तिहर्त्री॥२०१॥

अर्थ—इस संसारमें जो कोई जीव इस पृथ्वीपर जैसा वीज वोते हैं वैसा ही फल पाते हैं। केवल याचना करनेसे कोई फल नहीं मिलता। यही समझकर इस संसारमें भक्तिपूर्वक पुण्यकर्म करते रहना चाहिए। केवल याचना करने से काम नहीं चलता! पुण्यकार्य करनेसे ही आत्माकी इष्टसिद्धि होती है और सुख शांति को नाश करनेवाली आशा नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—किसान जैसा वीज वोते हैं वैसा ही फल पाते हैं। मांगनेसे कहीं कुछ नहीं मिलता। इसी प्रकार ये जीव जैसा करते हैं वैसा ही फल पाते हैं। जो प्रतिनित्य देवपूजा पात्रदान आदि पुण्यकार्य करते रहते हैं उनको यथेष्ट धनादिककी प्राप्ति होती रहती है और जो पहले जन्म पापकर्म करते रहते हैं उनको दरिद्रता रोग आदिके दुःख भोगने पड़ते हैं। यही समझकर भव्य जीवोंको सदाकाल देवपूजा पात्रदान आदि पुण्यकार्य करते रहना चाहिये जिससे इस लोक संवंधी विभूति भी प्राप्त होती रहे और परलोकमें भी स्वर्गादिकके सुख प्राप्त होकर मोक्ष प्राप्त होजाय। देवपूजा पात्रदान आदि पुण्यकार्य करनेसे आत्माका यथार्थ स्वरूप मालूम होजाता है वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करनेसे आत्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और संसारको वढ़ानेवाली आशा सव नष्ट होजाती है। आशाके नष्ट होनेसे शुभोपयोगकी वृद्धि होती है और अनुक्रम से शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होजाती है।

आगे शुद्ध चैतन्य स्वरूप सुखके विना समस्त क्रियाएं निरर्थक हैं ऐसा दिखलाते हैं।

व्रतेन किंवा विनयेन किंवा ।
मानेन किंवा मनसापि किंवा ॥
ध्यानेन किंवा खलु किं च धृत्वा ।
तापेन किंवा तपसापि किंवा ॥ २०२ ॥
योगेन किंवा स्मरणेन किंवा ।
बलेन किंवा बलिनापि किंवा ॥
यागेन किंवा यजनेन किंवा ।
क्रोधेन किंवा कृतिनापि किंवा ॥ २०३ ॥
शास्त्रेण किंवा मननेन किंवा ।
यन्त्रेण किंवा यतिनापि किंवा ॥
मन्त्रेण किंवा मुनिनापि किंवा ।
कालेन किंवा कलहेन किंवा ॥ २०४ ॥
रत्नेन किंवा रजसापि किंवा ।
मत्र्येन किंवा मगणेन किंवा ॥
कायेन किंवा वचनेन किंवा ।
ज्ञानेन किंवा नमनेन किंवा ॥ २०५ ॥
कीर्त्यापि किंवा कलुषेण किंवा ।
दानेन किंवा दययापि किंवा ॥
धर्मेण किंवा दमिनापि किंवा ।
मौनेन किंवा शमनेन किंवा ॥ २०६ ॥
स्वर्गेण किंवा स्वनितेन किंवा ।
नार्यापि किंवा नगरेण किंवा ॥

भोगेन किंवा भुजगेन किंवा ।
करेण किंवा करणेन किंवा ॥ २०७ ॥
हारेण किंवा हरिणापि किंवा ।
जाड्येन किंवापि जडेन किंवा ॥
रूपेण किंवापि रुजापि किंवा ॥
दानेन किंवा धनिनापि किंवा ॥ २०८ ॥
गंधेन किंवापि घृतेन किंवा ।
सारेण किंवा स्नपनेन किंवा ॥
त्यागेन किंवा ग्रहणेन किंवा ।
हर्षेण किंवा रुदनेन किंवा ॥ २०९ ॥
उच्चेन किं नीचजनेन किंवा ।
कायेन किंवा कलशेन किंवा ॥
खलेन किंवा कपटेन किंवा ।
शीतेन किंवापि शठेन किंवा ॥ २१० ॥
दुःखेन किं धूर्तशतेन किंवा ।
पूज्येन किं पुण्यशतेन किंवा ॥
मोहेन किंवा मणिनापि किंवा ।
वनेन किंवा व्यसनेन किंवा ॥ २११ ॥
वासेन किंवा वसनेन किंवा ।
कार्येण किंवा करणेन किंवा ॥
राज्ञापि किंवा सुरसेन किंवा ।
ह्यलंच किंवा बहुभाषणेन ॥ २१२ ॥

स्वशुद्धचिद्रूपपदं न लब्धं।
लब्ध्वापि तस्मिन्न कृता स्थितिश्चेत् ॥
पूर्वोक्तकृत्येन निरर्थकेन।
लाभस्तवात्मन् भुवि कोऽपि न स्यात् ॥२१३॥
ज्ञात्वेति नित्यं स्वरसं पिवन् हि।
स्वशुद्धचिद्रूपपदे प्रतिष्ठ ॥
कस्यापि कार्यस्य यतोवशक्ता।
ह्यनन्तकालेऽपि गते न ते स्यात् ॥ २१४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तुझको जबतक अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमपदकी प्राप्ति नहीं होती अथवा उस पदको प्राप्त करके भी जबतक उस परमपदमें स्थिरता नहीं होती तबतक न तो व्रत करनेसे कोई लाभ है, न अभिमान करनेसे कोई लाभ है, न उत्तम हृदयको धारण करने से कोई लाभ है, न ध्यान करनेसे कुछ लाभ है, न धैर्य धारण करनेसे कुछ लाभ है, न संताप करनेसे कुछ लाभ है, न तपश्चरण करनेसे कुछ लाभ है, न योग धारण करने से कुछ लाभ है, न मनन करनेसे कुछ लाभ है, न व्रलसे कुछ लाभ है, न बलवान् होने से कुछ लाभ है, न यज्ञ वा पूजा प्रतिष्ठा करनेसे कुछ लाभ है, न क्रोध करनेसे कुछ लाभ है, न पुण्यवान् होनेसे कुछ लाभ है, न शास्त्रोंके पढ़नेसे कुछ लाभ है, न मनन करनेसे कुछ लाभ है. न किसी यंत्रसे लाभ होता है, न किसी यति से लाभ होता है, न किसी मंत्रसे लाभ होता है, न किसी मुनिसे लाभ होता है, न समय से लाभ होता है, न किसीके साथ कलह

करनेसे लाभ होता है, न रत्नोंसे कुछ लाभ होता है, न धूलि मिट्टीसे कुछ लाभ होता है, न मनुष्योंसे कोई लाभ होता है, न मर जानेसे कोई लाभ होता है, न शरीर से कोई लाभ होताहै, न बचन से कुछ लाभ होता है, न ज्ञानसे कुछ लाभ होता है, न नम्रीभूत होनेसे कुछ लाभ होता है, न कीर्ति से कुछ लाभ होता है, न कलुषता से कुछ लाभ होता है, न दानसे कुछ लाभ होता है, न दयासे कुछ लाभ होता है, न धर्मसे कुछ लाभ होता है, न इन्द्रियों को दमन करनेसे कुछ लाभ होता है, न मौन धारण करनेसे कुछ लाभ होता है, न शांत रहनेसे कुछ लाभ है, न स्वर्गकी प्राप्ति से कुछ लाभ है, न ऊंचे स्वरसे कुछ करनेसे कोई लाभ है, न स्त्रीके रहनेसे कुछ लाभ है, न नगरमें रहने से कुछ लाभ है, न भोगविलास करनेसे कुछ लाभ है, न सर्पादिकके रखनेसे कुछ लाभ है, न हाथ पैरों से कुछ लाभ है, न अन्य साधनोंसे कुछ लाभ है, न हार पहनने से कुछ लाभ है, न इन्द्रादिक को वशमें रखनेसे कुछ लाभ है, न मूर्खोंकी संगतिसे कुछ लाभ है, न मूर्खता करनेसे कुछ लाभ है, न सुन्दररूप धारण करनेसे कुछ लाभ है, न किसी रोगके हो जानेसे कुछ लाभ है, न धन से कुछ लाभ है, न धनीसे कुछ लाभ है, न सुगंधियोंसे कुछ लाभ है, न धीरज से कुछ लाभ है, न किसी सारभूत पदार्थ से लाभ है, न अभिषेक आदि के करनेसे कुछ लाभ है, न त्याग करनेसे कोई लाभ है, न ग्रहण करनेसे कुछ लाभ है, न हर्षित होनेसे कुछ लाभ है, न रोनेसे कुछ लाभ है, न वड़े वा ऊंच

बननेसे कुछ लाभ है, न नीच बननेसे कुछ लाभ है, न काच रखनेसे कुछ लाभ है, न कलश रखने से कुछ लाभ है, न दुष्टोंकी संगतिसे कुछ लाभ है, न कपट करनेसे कुछ लाभ है, न शीतल पदार्थोंसे कुछ लाभ है, न दुर्जनोंसे कुछ लाभ है, न दुःखोंसे कुछ लाभ है, न सैंकड़ों धूर्तोंके इकट्ठे करनेसे कुछ लाभ है, न पूज्य पुरुषोंसे कुछ लाभ है, न सैंकड़ों पुण्य कार्य करनेसे कुछ लाभ है, न मोह करने से कुछ लाभ है, न मणियों के रखनेसे कुछ लाभ है, न वनमें रहनेसे कुछ लाभ है, न किसी व्यसन के सेवन करनेसे लाभ है, न किसी स्थान पर निवास करने से कुछ लाभ है न सुन्दर वस्त्रों के पहननेसे कुछ लाभ है, न किसी कार्यके करने से कुछ लाभ है, न किसी इन्द्रिय से कुछ लाभ है, न किसी राजा को अपने वश कर लेने से कुछलाभ है, और न मिष्टरसों के पान करने से कुछ लाभ है, वहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि जबतक शुद्ध चैतन्य स्वरूप अपने आत्माकी प्राप्ति नहीं होती वा जब तक उसमें स्थिरता नहीं होती तब तक ऊपर लिखे कृत्योंसे कोई लाभ नहीं होता। तब तक ऊपर लिखे कृत्य सब निरर्थक माने जाते हैं। यही समझ कर अपने आत्मजन्य आनंद का पान करते हुए अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में लीन हो जाना चाहिये। अन्य सबका त्यागकर देना चाहिये। क्यों कि संसार के किसी भी कार्य में लीन होनेसे अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती

भावार्थ—आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होना ही शुद्धो-

पयोग है। तथा यही शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है। इस जीवको जब तक यह शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं होता तब तक यह आत्मा कल्याणके यथार्थ मार्ग पर नहीं लग सकता। यद्यपि व्रत, उपवास तपश्चरण, ध्यान, समिति, गुप्ति, परीषहसहन, चारित्र आदि व्यवहार साधन सब शुद्धोपयोग के साधन हैं तथापि भव्य जीवों के ये सब मोक्ष के साधन हैं और अभव्यजीव के ये सब मिथ्यारूपसे धारण किये जाते हैं इसलिए वे मिथ्याव्रत, उपवास आदि संसार के ही कारण होते हैं। यही समझकर भव्य जीवों को सबसे पहले मोहनीयकर्म को नाश कर सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये। सम्यग्दर्शनके साथ सम्यज्ञान हो ही जाता है। तननंतर सम्यक्चारित्र धारण कर पापकर्मोंका नाश करते रहना चाहिए और फिर शुद्धोपयोग को धारण कर वा अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होकर समस्तकर्मों का नाश कर डालना चाहिये। समस्त कर्मोंका नाश होना ही मोक्ष है, और इसी मोक्ष में अनंतकाल तक रहने वाला अनंतसुख प्राप्त होता है। फिर अनंतानंत कल्पकाल व्यतीत होने पर भी उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता।

आगे शुद्धोपयोग का विशेष वर्णन करते हैं।

प्रश्न—**शुद्धोपयोगस्यारंभः, कस्मिन् स्थाने च लीनता॥**

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपकर यह बतलाइये कि शुद्धोपयोग का प्रारंभ कहां से होता है और उसकी स्थिरता वा लीनता किस गुणस्थान से होती है।

उत्तर—स्थानाच्चतुर्थात्खलु शांतिरूप- ।
शुद्धोपयोगस्य शिवप्रदस्य ॥
आरम्भ एवात्मरतस्य नृणां ।
स्याच्छुद्धचिद्रूपपदेऽनुरागः ॥ २१६ ॥
ततः किलोर्ध्वं स्थिरतां स्वधर्मे ।
व्रती व्रते स्वात्मरसेऽतिमिष्टे ॥
प्राप्नोति योग्येव रुचिं विशेषां ।
प्रमादनाशाद्धि सुखं स्वभावात् ॥ २१७ ॥

अर्थ—यह शुद्धोपयोग अत्यन्त शांतिस्वरूप है, मोक्ष देनेवाला है। और अपने आत्मा के शुद्धस्वरूपमें ही रहने वाला है। ऐसे इस शुद्धोपयोग का प्रारंभ स्वात्मानुभूति की अपेक्षा चौथे गुणस्थान से होता है। तथा चौथे ही गुणस्थान से शुद्ध चिदानंद स्वरूप में अनुराग उत्पन्न होता है। तदनन्तर ऊपरके गुणस्थानोंमें व्रती पुरुषोंमें स्थिरता उत्पन्न हो जाती है तथा उससे भी आगे के गुणस्थानों में योगी पुरुषोंको अत्यन्त मिष्ट ऐसे अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में विशेष रुचि हो जाती है और फिर प्रमाद के नाश होनेपर स्वभाव से ही आत्मसुख प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—इस संसार में यह प्राणी मोहनीयकर्मके उदय से अपने आत्मा का स्वरूप भूल जाता है। तथा परपदार्थों में मोह उत्पन्न करता हुआ उनसे राग द्वेष करने लगता है। राग द्वेष करने से अशुभोपयोग होता है। परंतु जब वह मोहनीय कर्म उपशमको प्राप्त हो जाता है अथवा उसका क्षय वा क्षयोपशम

हो जाता है तब उस जीव के एक प्रकार का आत्मजन्य अमूर्त प्रकाश उत्पन्न होता है, जिससे यह आत्मा अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचानने लगता है। इस प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने से यह जीव परपदार्थों को हेय समझने लगता है और आत्मा के यथार्थस्वरूप को उपादेय समझने लगता है। इस प्रकार जब उसके हेयोपादेयबुद्धि उत्पन्न हो जाती है तब अनुक्रम से उसका रागद्वेष छूट जाता है, तथा रागद्वेषके छूटने से अशुभोपयोग छूट जाता है, और शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति होने लगती है। उसी समयमें शुद्धोपयोगमें अनुराग होने लगता है और जितने अंश में मोहनीयकर्मका नाश होगया है उतने अंश में आत्मा की शुद्ध अवस्था प्रगट हो जाती है। इसीको उपचारनयसे शुद्धोपयोगका प्रारंभ करते हैं। तदनंतर जब अप्रत्याख्यानावरणकर्म नष्ट हो जाता है। तब यह जीव व्रत धारण कर लेता है तथा प्रत्याख्यानावरणकर्मके नष्ट होने पर महाव्रत धारण कर लेता है। उस समय महाव्रत धारण करने के कारण कर्मों की अधिक निर्जरा होती रहती है और वह योगी अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में वा शुद्धोपयोगमें विशेष रुचि उत्पन्न करने लगता है। तदनन्तर जब प्रमाद नष्ट हो जाता है तब, वह आत्मा शुद्धोपयोगके अत्यन्त निकट पहुंच जाता है और श्रेणी चढ़ने पर शुद्धोपयोग को प्राप्त हो जाता है। आगे जैसे जैसे ऊपर के गुणस्थानोंमें पहुंचता जाता है वैसे ही आत्मा की शुद्ध अवस्था बढ़ती जाती है और घातिया कर्मों के नाश होने पर तेरहवें

गुणस्थानमें अत्यन्त शुद्धता प्राप्त हो जाती है। वा शुद्धोपयोगकी पूर्णता हो जाती है। उसी समय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतवीर्य और अनन्तसुख प्राप्त हो जाता है, और ये चारों ही अनन्त चतुष्टय फिर अनन्तकाल तक बने रहते हैं। फिर उनमें कोई किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है।

आगे शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिए छहों द्रव्योंका निरूपण करते हैं।

त्यजेन्न धर्मो गमनोपकारं।
स्थितौ सहाय्यं न कदाप्यधर्मः॥
नभोऽपि नित्यं ह्यवकाशदानं।
त्यजेन्न कालः परिवर्तनत्वम्॥ २१७॥
स्पर्शादिधर्मं न च पुद्गलोऽपि।
संसारिजीवश्च विभावभावम्॥
लब्ध्वोपदेशं सुगुरोर्निजात्म-।
सुशुद्धचिद्रूपपदं लभेत॥ २१८॥
पूर्वोक्त षड्द्रव्यचयस्य लक्ष्म।
ज्ञात्वा फलं स्वात्मतरोः सुमिष्टम्॥
स्वात्मात्मना वात्मनि वात्मने वा-।
स्मानः किलात्मानमपि प्रयत्नात्॥२१९॥
जानाति यः पश्यति तिष्ठतीति।
शुद्धोपयोगी स मुनिः प्रपूज्यः॥
निजात्मतृप्तेन दिगम्बरेण।
श्राकुन्थुनाम्ना वरसूरिणोक्तम्॥ २२०॥

अर्थ—धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायता देनेरूप अपने कर्मको कभी नहीं छोड़ता। अधर्मद्रव्य उन्हीं जीव पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायता देनेरूप अपने धर्मको कभी नहीं छोड़ता। आकाशद्रव्य समस्त पदार्थोंको स्थान देनेरूप अपने धर्मको कभी नहीं छोड़ता। कालद्रव्य समस्त पदार्थोंको परिवर्तन करनेरूप अपने धर्मको नहीं छोड़ता। पुद्गलद्रव्य स्पर्शरसगंधवर्णरूप अपने स्वभावको नहीं छोड़ता और संसारी जीव अपने विभाव परिणामोंको नहीं छोड़ते। परंतु वे ही संसारी जीव अपने वीतराग निर्ग्रंथ गुरुका उपदेश सुनकर विभावपरिणामों का त्याग कर देते हैं और अपने आत्मा के चिदानन्दस्वरूप अत्यन्त शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार जो जीव छहों द्रव्योंका स्वरूप समझ लेते हैं और फिर अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप वृक्षके मीठे फलों को जानकर जो चिदानन्द स्वरूप शुद्ध आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा के लिये अपने ही आत्माको प्रयत्न पूर्वक जानते हैं, प्रयत्न पूर्वक अपने ही आत्माको देखते हैं और अपने ही आत्मा में प्रयत्न पूर्वक स्थिरता के साथ लीन रहते हैं ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि सदाकाल पूज्य माने जाते हैं। इस प्रकार यह कथन अपने आत्मामें तृप्त रहनेवाले और दिगम्बर अवस्था को धारण करनेवाले आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरस्वामीने निरूपण किया है।

भावार्थ—इस संसारमें छह द्रव्य हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमेंसे पुद्गलद्रव्य रूपी है। जिसमें

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार गुण हों उसको रूपी द्रव्य कहते हैं ये चारों गुण साथ साथ रहते हैं जहां एक रहता है वहां सूक्ष्म वा स्थूलरीति से चारों ही गुण रहते हैं। जैसे वायु में केवल स्पर्शगुण जान पड़ता है परन्तु उस वायुमें चारों ही गुण रहते हैं। जिस समय साइन्सके द्वारा पानी को दो प्रकारकी वायुमें परिणत करते हैं तो वह पानी में रहने वाला रूप सूक्ष्मरीति से वायुमें परिणत हो जाता है। तदनन्तर यदि उन्हीं दोनों प्रकार की वायुको पानीमें परिणत कर लेते हैं तब वही सूक्ष्मरूप स्थूल-रूप होकर प्रगट हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वायुमें रूप है। यदि वायुमें रूप नहीं होता तो उससे बने हुए पानीमें कहांसे आता। परन्तु वायुसे बने हुए पानीमें रूप दिखाई पड़ता है इसलिए वायुमें भी रूप अवश्य मानना पड़ता है। तथा जहां जहां रूप होता है वहां वहां रस और गंध भी अवश्य होते हैं। जैसे आममें रूप है इसलिए उसमें स्पर्श, रस, गन्ध भी है। इस प्रकार वायुमें चारों गुण अवश्य मानने पड़ते हैं। इसी प्रकार पृथ्वीमें चारों गुण हैं, जलमें चारों गुण हैं अग्निमें चारों गुण हैं। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारों ही पौद्गलिक हैं। इसी प्रकार शब्द भी पौद्गलिक है। क्योंकि वह कानसे सुनाई पड़ता है। कानसे सुनाई देनेके कारण उसमें स्पर्शगुण मानना ही पड़ता है। इसके सिवाय तोप आदिके शब्दोंसे बड़े बड़े मकान हिल जाते हैं वा गिर जाते हैं, स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं इससे सिद्ध होता है कि शब्दमें स्पर्शगुण अवश्य है। तथा जहां स्पर्श रहता है वहां

रूप भी अवश्य रहता है और रूपके साथ रस गंध भी अवश्य रहता है। इस प्रकार शब्दमें स्पर्शगुण प्रगट रीतिसे रहता है और रूप, रस, गंध, गुण सूक्ष्मरीतिसे रहते हैं। इन चारों गुणोंके रहनेसे शब्द पौद्गलिक है यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। यह पुद्गल अपने इन गुणोंको कभी नहीं छोड़ता है। इसके सिवाय इस पुद्गलद्रव्यमें क्रिया भी होती है अर्थात् पुद्गलमें गमन करनेकी भी शक्ति है। जैसे वायु विना किसीकी सहायतासे चलता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी हलके होनेपर चलने लगते हैं। तथा जीवमें चलनेकी शक्ति है ही। इस प्रकार जीव और पुद्गल दोनोंमें चलनेकी शक्ति रहते हुए भी इनके चलनेमें धर्मद्रव्य सहायक होता है। जैसे मछलीमें चलनेकी शक्ति रहते हुए भी उसके चलनेमें पानी सहायक होता है। यदि पानी न हो तो मछली नहीं चल सकती। इसी प्रकार यदि धर्म द्रव्य न हो तो जीव पुद्गल भी नहीं चल सकते। जीव पुद्गलोंके चलनेसे ही धर्मद्रव्यकी सत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार जीव पुद्गलों के ठहरनेमें अधर्मद्रव्य सहायक होता है जैसे पथिक को ठहरने में छाया सहायक हो जाती है। जीव पुद्गलों के ठहरने से अधर्मद्रव्य की सत्ता सिद्ध होती है। धर्म अधर्म दोनों ही द्रव्य व्यापक होकर समस्त लोकाकाशमें भरे हुए हैं। आकाशद्रव्य सबको स्थान देता ही है। और काल द्रव्य द्रव्योंके परिवर्तन होनेमें कारण है। कालके प्रत्येक समयमें प्रत्येक पदार्थका परिवर्तन हुआ करता है। इस प्रकार परिवर्तन

होते होते कोई भी नवीन पदार्थ कालांतर में जीर्णरूप हो जाता है। इससे कालकी सत्ता सिद्ध होती है। जीव पदार्थ चैतन्य स्वरूप है यह पहले बता ही चुके हैं। जीवोंमें जो संसारी जीव हैं वे सब राग द्वेष रूप विभावपरिणामों को प्राप्त होते रहते हैं। तथा उन्हीं विभावपरिणामों के कारण चारों गतियोंमें परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ए छह द्रव्य कहलाते हैं। इन छहों द्रव्योंमेंसे जब यह गुरुके उपदेश को सुनकर अपने विभावपरिणामों का त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्धस्वरूप को जानकर उसी को ग्रहण करने लगता है उस समय यह जीव ऊपर लिखे छहों द्रव्यों को हेय समझकर उन सबका त्याग कर देता है। तथा अपने आत्मा का कल्याण करने के लिये अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्रगट कर उसी अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप में लीन वा स्थिर हो जाता है। इसी शुद्ध आत्मा में स्थिर होने को शुद्धोपयोग कहते हैं। यह शुद्धोपयोग समस्त कर्मों को नाश करने वाला है और साक्षात् मोक्ष का कारण है। ऐसा आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामीने निरूपण किया है। इसका स्वरूप समझ कर समस्त भव्यजीवोंको अपने कल्याण मार्ग में लग जाना चाहिये। यही उनके निरूपण करने का अभिप्राय है।

आगे जीवों का अवगाहन बतलाते हैं।

प्रश्न—**जीवानामवगाहश्च कियन्मे साम्प्रतं वद।**

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जीवोंका अवगाह कितना है?

उत्तर—अवगाहनेन जीवाः सन्ति देहप्रमाणकाः।
प्रदेशा एकजीवस्य संख्यातीता जगत्समाः॥२२१॥
वीतरागजिनेन्द्रस्यानन्तं ज्ञानं नभःसमम्।
ज्ञानापेक्षया व्याप्ताः सर्वे जीवा नभःसमा॥२२२॥
यद्येवं प्राणिनां लक्ष्म न स्यात्तर्हि निरंजनम।
सुखदुःखादिसंबन्धः सर्वैःसार्द्धं भवेद्ध्रुवम्॥२२३॥
किन्त्वेवं दृश्यते नातो ग्राह्यः पूर्वविधिर्मुदा।
भव्यामोहंयतस्त्यक्त्वालभेरन्मुक्तिकामिनीम्॥२२४

अर्थ—अवगाहनकी अपेक्षा ये समस्त जीव अपने अपने शरीर के प्रमाण समान हैं तथा प्रदेशों की अपेक्षा प्रत्येक जीवके लोकाकाश के प्रदेशों के समान असंख्यात प्रदेश हैं। भगवान् वीतराग सर्वज्ञदेवका ज्ञान अनंत है और अनंत आकाश के समान वा उससे भी अनंत गुणा है। इसलिये ज्ञानकी अपेक्षा समस्त जीव आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हैं।

कदाचित यहां पर कोई प्रश्न करे कि यदि ज्ञानकी अपेक्षा जीव को व्यापक माना जायगा तो फिर जीव का निरंजन चिह्न सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि जीव को व्यापक मानने से सुख दुःखका संबंध समस्त जीवों के साथ हो जायेगा। परंतु ऐसा दिखाई नहीं देता। इसलिये ज्ञान की अपेक्षा भी जीवको व्यापक नहीं मानना चाहिये। परंतु इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पहले कही हुई विधि को ग्रहण करने से ऊपर लिखा दोष नहीं आता अर्थात् जब यह जीव अन्य समस्तपदार्थों का त्याग कर केवल

अपने आत्मा में लीन हो जाता है तब उसका संबंध केवल अपने आत्मा से रह जाता है अन्य सबसे संबंध छूट जाता है। तथा यह भव्य जीव मोह का त्याग कर मुक्तिरूपी कन्या को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—जिस प्रकार दर्पण में समस्त पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है, सामने के समस्त पदार्थ उसमें दिखाई पड़ते हैं तथापि वह दर्पण उन पदार्थोंके पास नहीं पहुंचता है और न वे पदार्थ ही दर्पणके समीप आ जाते हैं किंतु उस दर्पण की निर्मलता के कारण उसमें समस्त पदार्थों का प्रतिबिंब पड़ जाता है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान आत्मामें ही रहता है वह आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, किंतु उस ज्ञान में निर्मलता होने के कारण लोकाकाशके समस्त पदार्थ उसमें प्रतिभासित होते हैं। तथा समस्त अलोकाकाश भी उसमें प्रतिभासित होता है। इसीको ज्ञान की व्यापकता कहते हैं। ऐसा मानने से किसी भी जीव के सुख दुःख किसी भी दूसरे जीव के साथ संबंधित नहीं हो सकते और न जीव का निरंजन लक्षण नष्ट हो सकता है। अतएव यह जीव ज्ञान की अपेक्षा व्याप्त, प्रदेशों की अपेक्षा व्याप्त नहीं है। प्रदेशों की अपेक्षा से यद्यपि उसके असंख्यात प्रदेश हैं और लोकाकाश के प्रदेशोंके समान है तथापि वे शरीर के प्रमाण ही रहते हैं। यह जीव जैसा छोटा या बड़ा शरीर धारण करता है उसी के समान जीव के प्रदेश हो जाते हैं। जीव के प्रदेशों में संकोच विस्तार होने की शक्ति है। जिस प्रकार किसी दीपक को यदि घड़े के भीतर रखदें तो उसका प्रकाश घड़े के ही समान

होता है और उसी दीपक को घडे से निकालकर यदि किसी बड़े कमरे में रखदें तो उसका प्रकाश फैलकर समस्त कमरे में फैल जाता है। जैसे इस दीपकमें संकोच विस्तार होने की शक्ति है इसलिये यह जीवके प्रदेशों में संकोच विस्तार होने की शक्ति है। उसी प्रकार यह जीव जब छोटा शरीर धारण करता है तब उसके प्रदेश संकुचित होकर उसी शरीर के समान होजाते हैं, जब यह जीव बड़ा शरीर धारण करता है तब उसके प्रदेश विस्तृत होकर उस बडे शरीर के समान होजाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं और अवगाहन की अपेक्षा समस्त जीव अपने अपने शरीर के प्रमाणके समान है। मुक्त जीव सब अपने अपने अंतिम शरीर के समान अवगाहना धारण करते हैं। जिस शरीर से वे मुक्त होते हैं वा कर्मों को नाश करते हैं उसी शरीर के समान उन मुक्त जीवों की अवगाहना रहती है। पहले शरीर की अवगाहना कर्मोंके उदय से बदलती थी तथा उन्हीं कर्मों के उदय से जीव की अवगाहना भी बदल जाती थी परंतु मुक्त होनेपर समस्त कर्म नष्ट हो ही जाते हैं। क्योंकि समस्त कर्मों का नाश होना ही मोक्ष है। इसलिये मुक्त होने के समय में जो शरीर में जो शरीर और जीव की अवगाहना थी फिर उस जीव की वही अवगाहना ज्योंकी त्यों बनी रहती है। कर्मों के नष्ट होने से फिर वह बदल नहीं सकती। क्योंकि फिर उसके बदलने का कोई भी कारण नहीं रहता है। इसलिये मुक्त जीवों की अवगाहना अंतिम शरीर के समान ही होती है।

आगे शुद्धोपयोग प्राप्त करनेके लिए कौनसा धर्म स्वीकार करना चाहिए यही बतलाते हैं।

प्रश्न—**शुद्धोपयोगसिद्धयर्थं कीदृग्धर्मो वरो वद ।**

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि शुद्धोपयोग प्राप्त करने के लिये कौनसा धर्म स्वीकार करना चाहिये ?

उत्तर—**शुद्धोपयोगी सुगुरुर्ब्रवीति ।**

ह्येकोऽस्ति धर्मो वरवीतरागः ॥
त्राता स लोकेऽखिलप्राणिनां वै ।
सम्पद्विधायीति विपद्विनाशी ॥ २२५ ॥
पूर्वोक्तरीतेः खलु यो विरुद्धः ।
स एव निंद्योऽस्ति सरागधर्मः ॥
तथापि धर्मोऽस्त्यशुभोपयोगी ।
ह्याश्चर्यमेवं कुगुरुर्ब्रवीति ॥ २२६ ॥
ज्ञात्वेति निंद्यं च सरागधर्मं ।
त्यक्त्वैव गृह्णातु विरागधर्मम ॥
यतस्त्रिलोके स्वरसस्य पानं ।
स्याच्छुद्धचिद्रूपसुखस्य चर्चा ॥ २२७ ॥

अर्थ—शुद्धोपयोग को धारण करनेवाले गुरु यही उपदेश देते हैं कि इस संसारमें एक वीतरागधर्म ही सबसे उत्तम धर्म है। यही वीतरागधर्म इस संसार में समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाला है, आत्मा को अनन्तचतुष्टय आदि समस्त विभूतियोंको देनेवाला है और संसारकी समस्त विपत्तियोंको नाश करने वाला है।

इस वीतरागधर्म से जो विरुद्ध है वह निंदनीय सरागधर्म कहलाता है। यद्यपि यह सरागधर्म निंदनीय और त्याग करने योग्य है तथापि अशुभोपयोगको धारण करनेवाले कुगुरु इस सरागधर्मको ही धर्म कहते हैं। यह भी एक आश्चर्यकी ही बात है। यही समझकर भव्यजीवोंको इस निंदनीय सरागधर्मका त्याग कर देना चाहिए और परमपूज्य वीतरागधर्मको ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि वीतरागधर्म को धारण कर लेनेसे यह जीव तीनों लोकोंमें अपने शुद्धात्मजन्य परमरसका पान करने लगता है और चिदानन्दमय शुद्ध आत्माके परम सुखको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—धर्म के दो भेद हैं एक सरागधर्म और दूसरा वीतरागधर्म। सरागधर्मको धारण करनेवाले गृहस्थ और मुनि दोनों ही होते हैं और वीतरागधर्मको धारण करनेवाले केवल उत्तम मुनि ही होते हैं। जो आत्मा समस्त मोहका त्याग कर केवल अपने शुद्ध आत्मामें लीन हो जाता है उसके वीतराग धर्म होता है। यही वीतराग धर्म साक्षात् मोक्ष का कारण है। इस संसार में होनेवाले चारों गतियोंके दुःखोंसे बचानेवाला है, और अनंतचतुष्टय आदि आत्माकी समस्त विभूतियोंको देनेवालाहै।

सरागधर्म के दो भेद हैं एकदेश धर्म और दूसरा पूर्ण धर्म। गृहस्थ वा श्रावक लोग एकदेशधर्मको धारण करते हैं। और मुनि लोग पूर्णधर्मको धारण करते हैं. पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करना और अंतमें समाधि मरण धारण करना गृहस्थोंका धर्म है। तथा पंचमहाव्रत, तीन

गुप्ति और पांच समिति यह तेरह प्रकार का चारित्र पूर्णसराग धर्म है। अथवा जबतक इस जीव के राग अवस्था रहती है तबतक उस जीवके सरागधर्म रहता है और रागद्वेष के छूट जाने पर वीतरागधर्म उत्पन्न होता है। यह सरागधर्म परंपरा से मोक्ष का कारण है और वीतराग धर्म साक्षात् मोक्षका कारण है। इस सरागधर्म और वीतराग धर्मसे जो सर्वथा विरुद्ध है, उसको मिथ्याधर्म कहते हैं। यह मिथ्याधर्म तीव्र रागद्वेषरूप है और इसी लिये संसार का कारण है। यह मिथ्याधर्म अशुभोपयोग धारण करने वाले जीवोंके ही होता है और अशुभोपयोगको धारण करने वाले कुगुरु ही इस मिथ्याधर्म का उपदेश देते हैं। यही समझकर भव्यजीवों को इस मिथ्याधर्मका त्याग कर देना चाहिये और सरागधर्म को धारण करलेना चाहिये। तदनंतर धीरे धीरे अभ्यास द्वारा रागद्वेष को सर्वथा नष्ट करते रहना चाहिये और जब रागद्वेष का सर्वथा अभाव हो जाय तब सरागधर्मको भी छोड़कर परमोत्तम और अत्यन्त शुद्ध ऐसे वीतरागधर्म को धारण कर लेना चाहिये। आत्मा के कल्याण करने का यही सबसे उत्तम मार्ग है।

आगे-- शुद्धोपयोग के लिये विचार करते हैं।

शुद्धोपयोगसिद्ध्यर्थं विचारः क्रियते पुनः ॥

अर्थ—अब आगे शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिये कुछ थोड़ासा विचार करते हैं।

द्रव्यादिकर्मणः स्वात्मरागादिभावकर्मणः।
देहादिकर्मणोऽत्यंतभिन्नश्चिद्रूपनायकः ॥ २२८ ॥

शुद्धोपयोगिनः साधोः स्वभावादिति निश्चयः।
चित्ते मे जायते चैवमागाधो महिमा ह्यहो ॥२२९॥

अर्थ—शुद्ध चिदानंदस्वरूप यह मेरा आत्मा ज्ञानावरण आदि आठों द्रव्यकर्मोंसे भिन्न है, रागद्वेष आदि भावकर्मों से सर्वथा भिन्न है और शरीर आदि नोकर्मोंसे सर्वथा भिन्न है। जो मुनि अत्यन्त शुद्धोपयोग को धारण करते हैं उनको स्वभाव से ही यह निश्चय हो जाता है। इसीलिये मेरे हृदय में इस चिदानन्द स्वरूप शुद्ध आत्मा की महिमा अगाध सिद्ध हो जाती है।

भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय ये आठों कर्म तथा इन आठों कर्मोंके एकसौ अडतालीस भेद सब द्रव्यकर्म कहलाते हैं। आत्मा के जिन परिणामों से ये द्रव्यकर्म आते हैं ऐसे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि सब भावकर्म कहलाते हैं। तथा जिन पुद्गल वर्गणाओंसे औदारिक वैक्रियक, आहारक ये तीनों शरीर बनते हैं और छहों पर्याप्तियां बनती हैं उन पुद्गल वर्गणाओंको नोकर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्मोंके द्रव्य कर्म, भावकर्म और नोकर्म ये तीन भेद होते हैं। ये तीनों ही प्रकार के कर्म अशुद्ध जीवके ही होते हैं। मेरा आत्मा शुद्ध है, इसलिये वह द्रव्य कर्म, भावकर्म और नोकर्म तीनों से रहित है। परंतु ऐसा निश्चय शुद्धोपयोग धारण करने वाले उत्तम मुनियोंको ही होता है क्योंकि शुद्ध आत्मा का अनुभव उन्हीं मुनियों को होता है। इसीलिये वे मुनि ही इसका निश्चय कर सकते हैं। वास्तव में देखा जाय तो

शुद्ध आत्मा की महिमा अगाध है, कोई भी पुरुष इसका पार नहीं पा सकता अतएव भव्यजीवोंको अपना आत्मा सर्वथा शुद्ध बना लेना चाहिये। जिससे कि समस्त कर्म नष्ट होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

आगे—बाह्य पदार्थों के त्याग करने से कुछ लाभ होता है वा नहीं यही बतलाते है।

प्रश्न—**स्याद्बाह्यवस्तुनस्त्यागात्कोऽपि लाभो न मे वद।**

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि बाह्य पदार्थों के त्याग करने से कुछ लाभ होता है या नहीं।

उत्तर—**बाह्यादिवस्तुलाभेन कोऽपि लाभो भवेन्नहि।**
न तदलाभतो हानिर्मानापमानतस्तथा॥ २३०॥
एवं स्यान्निश्चयो यस्य स स्यात्स्वर्मोक्षदायकः।
सोपि शुद्धोपयोगीति ज्ञेयः सिद्धः प्रमाणतः॥२३१॥

अर्थ—बाह्य पदार्थोंके लाभ होनेसे मेरे आत्मा का कोई लाभ नहीं होता तथा बाह्य पदार्थोंकी प्राप्ति न होनेसे मेरी कोई हानि नहीं होती। इसी प्रकार मेरा मान होने से मेरा कुछ लाभ नहीं होता और मेरा अपमान होने से मेरे आत्मा की कुछ हानि नहीं होती। इस प्रकार निश्चय करने वाला महात्मा स्वर्ग मोक्ष को प्राप्त होता है और स्वर्गमोक्ष को देनेवाला होता है। तथा उसी को शुद्धोपयोगको धारण करने वाला कहते हैं और वही जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। ऐसा प्रमाणसे सिद्ध होता है।

भावार्थ—धन, संपत्ति, कुटुंब, राज्य आदि संसारके समस्त

सामग्री वाह्य पदार्थ कहलाते हैं, यहांतक कि शरीर भी वाह्य पदार्थ है, और रागद्वेषादिक भाव भी आत्मा के शुद्ध स्वभावसे भिन्न वाह्य पदार्थ हैं। इन पदार्थोंके मिल जानेसे आत्माका कोई लाभ नहीं होता तथा न मिलने से आत्माकी कोई हानि नहीं होती। यदि वास्तवमें देखा जाय तो इन वाह्य पदार्थों के मिल जाने से आत्मा के शुद्धस्वरूपकी हानि हो रही है। इन वाह्य पदार्थोंका मोह ही इस आत्माको शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होने देता। परंतु जब यह आत्मा अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ लेता है और इन पदार्थोंको अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप से सर्वथा भिन्न समझ लेता है तब वह इन पदार्थों का मोह छोड़ देता है। तथा इन पदार्थों का आत्मा से कोइ किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता। उस समय इन पदार्थों के मिलने वा न मिलने से आत्माको कोई हानि लाभ नहीं होता। इसी प्रकार मान वा अपमान होने से भी शुद्ध आत्मा को कोई हानि लाभ नहीं होता। इस प्रकार वाह्य समस्त पदार्थों से आत्माकी सर्वथा भिन्न अवस्था प्राप्त हो जाती है उसी को शुद्धोपयोग कहते हैं। ऐसा शुद्धोपयोग ही मोक्ष प्राप्त करानेवाला है और मोक्ष का साक्षात् कारण है। यही समझकर भव्यजीवों को सबसे पहले मोह का त्याग कर देना चाहिये। मोह का त्याग कर देने से वाह्य पदार्थोंका संबंध छूट जाता है और शुद्ध अवस्था प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

आगे ध्याता ध्यान और ध्येयमें भेद अभेद दोनों दिखलाते हैं।

प्रश्न—ध्यातृध्यानसुध्येयेषु भेदोऽस्ति वा न मे वद।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ध्याता ध्यान और ध्येय में कुछ भेद है वा नहीं।

उत्तर—ध्यानं ध्याता च ध्येयोपि भिन्नोस्ति व्यवहारतः।
ध्याता ध्यानं स्वयं स्वात्मा ज्ञेयो ध्येयोपि निश्चयात्

अर्थ—यदि व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों ही भिन्न भिन्न हैं। परंतु यदि निश्चयनय से देखा जाय तो मेरा यह शुद्ध आत्मा स्वयं ध्याता है स्वयं ध्यान रूप है और स्वयं ध्येय है।

भावार्थ—ध्यान करनेवाले को ध्याता कहते हैं, जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है उसको ध्येय कहते हैं और जो ध्यान वा चिंतवन किया जाता है उसको ध्यान कहते हैं। जैसे कोई जीव भगवान जिनेन्द्रदेवका ध्यान करता है उस समय वह ध्यान करने वाला भव्यजीव ध्याता है, भगवान् जिनेन्द्रदेव ध्येय है और वह जो अपने मनसे चिंतवनरूप क्रिया करता है उसको ध्यान कहते हैं। इस प्रकार व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो ध्याता ध्येय और ध्यान तीनों ही भिन्न भिन्न हैं। परंतु जहांपर अपना यह शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध आत्मा के ही द्वारा अपनेही शुद्ध आत्माका ध्यान करता है वहांपर ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों ही एक शुद्ध आत्मस्वरूप होते हैं। इसलिये तीनों ही अभिन्न सिद्ध होते हैं। क्यों कि जो ध्यान करने वाला शुद्ध आत्मा है वह उसी अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है और उसी अपने शुद्ध आत्मा के द्वारा उसमें लीन होता है इसलिये शुद्ध निश्चय

नयसे तीनों ही एक हैं। जो शुद्ध आत्मा ध्याता है; वही ध्येय है और वही ध्यान है। निश्चयनय से ध्याता ध्येय और ध्यान में कोई भेद नहीं है।

आगे ध्याता ध्यान और ध्येयका स्वरूप वा चिन्ह बतलाते हैं।

प्रश्न—**ध्यातुर्ध्यानस्य ध्येयस्य किं चिह्नं मे गुरो! वद।**

अर्थ—हे गुरो! अब कृपाकर बतलाइये कि ध्याता ध्यान और ध्येय का चिन्ह वा इनका स्वरूप क्या है।

उत्तर—**यो ध्यायति शुद्धात्मा ध्याता स्वात्मैव स्वात्मनि।**
शुद्धात्मानं स्वकीयं च तद्ध्येयं ध्यायतीति वा॥२३३॥
ध्यानं स एव शुद्धात्मा यतस्तेनैव चिन्त्यते।
प्रोक्तं च स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा २३४॥

अर्थ—जो अपना ही शुद्ध आत्मा अपने ही आत्मा में ध्यान करता है वह ध्यान करने वाला शुद्धात्मा ध्याता कहलाता है। तथा वह शुद्धात्मा अपने ही शुद्धात्मा का चिंतवन करता है इस-लिये उसका वही शुद्धात्मा ध्येय कहलाता है और वह शुद्धात्मा अपने उसी शुद्धात्मा के द्वारा चिंतवन करता है इसलिये उसका वही शुद्धात्मा ध्यान कहलाता है। इस प्रकार अपने आत्मा में संतुष्ट रहनेवाले आचार्य श्री कुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ—ध्यान करनेवालेको ध्याता कहते हैं, जिसका ध्यान किया है उसको ध्येय कहते हैं और ध्यान करने वा चिंतवन करने को ध्यान कहते हैं। यहांपर अपना शुद्ध आत्मा ही ध्यान करनेवाला है। अपने ही शुद्धात्मा का

ध्यान किया जाता है और उसी शुद्ध आत्मामें लीन होकर उसका ध्यान किया जाता है इसलिये वही अपना शुद्धात्मा ध्याता है, वही अपना शुद्धात्मा ध्येय है, और वही शुद्धात्मा ध्यान है। उस ध्यानमें किसी प्रकारका संकल्प विकल्प नहीं है। वह शुद्धात्मा में लीन होकर निश्चल अवस्था को धारण कर लेता है। इसलिये उसमें ध्यान, ध्येय वा ध्याताका कोई विकल्प नहीं होता है। इसीलिये वह ध्यान ध्येय ध्याता तीनों ही अपने शुद्धात्मा स्वरूप पड़ते हैं और इसीलिये वे तीनों एक ही शुद्धात्मा स्वरूप होजाते हैं।

आगे शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिये कैसी भावना रखनी चाहिये यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—भावना कीदृशी कार्या शुद्धोपयोगसिद्धये।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि शुद्धोपयोग प्राप्त करने के लिये कैसी भावना रखनी चाहिये।

उत्तर—नित्ये निजानन्दपदे निपद्या।
शुद्धेऽस्ति चर्यापि निजप्रदेशे॥
चिद्रूपशय्याशयनं सदा मे।
शुद्धोपयोगीति स यस्य भावः॥ २३५॥

अर्थ—जो योगी सदाकाल रहनेवाले अपने चिदानंद स्वरूप शुद्धात्मा में ही अपनी निपद्या वा बैठक समझता है, जो अपने आत्मा के ही शुद्ध प्रदेशों में चर्या गमनागमन समझता है और अपने ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको शय्यारूप समझकर उसीपर शयन करता रहता है इस प्रकार जो सदा काल अपनी

भावनाएं रखता है उसको शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला समझना चाहिये ।

भावार्थ—जब यह शुद्ध आत्मा अपने ही स्वरूप में लीन होजाता है, यहांतक कि ध्याता ध्यान और ध्येय तक का विकल्प छोड़ देता है उस समय वह आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मामें स्थिरता के साथ लीन हो जाता है। उस समय में वह शुद्धात्मा अपने ही उस शुद्धात्मामें चर्या करने वाला, वा बैठनेवाला, वा सोनेवाला समझा जाता है। यद्यपि वहांपर चर्या शय्या निषद्या कुछ है नहीं केवल शुद्ध आत्मा, शुद्ध आत्मामें वा अपने ही शुद्धस्वरूप में लीन है तथापि वह शुद्धात्मा अपने शुद्ध आत्मा को सब प्रकारसे सुख देनेवाला समझता है। उसीको सुख देनेवाली शय्या समझता है उसी को सुखसे बैठने योग्य आसन समझता है और उसीको विहार करने योग्य स्थान समझता है। इस प्रकार जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सर्वथा लीन रहने की भावना रखता है उसी को शुद्धोपयोगी समझना चाहिये।

आगे शुद्धोपयोग को धारण करनेवाला जीव कुछ बचन भी कहता है वा नहीं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**क्वचिच्छुद्धोपयोगीह ब्रवीति वा न मे वद ।**

अर्थ—अब कृपाकर यह बतलाइये कि शुद्धोपयोगको धारण करने वाला जीव कभी कुछ बचन कहता है वा नहीं ?

उत्तर—**प्रायश्चिदानन्दमयी विरागी ।**
शुद्धोपयोगी भवतीति मौनी ॥

शुद्धात्मशान्त्यै यदि चेद् ब्रवीति ।
हितं मितं शातिकरं प्रियं वा ॥ २३६ ॥
दृग्बोधचारित्रमयो ममात्मा;
साध्यः प्रसिद्धो व्यवहारतोऽस्ति ॥
चिद्रूपमूर्तिः परमार्थतो वा
ह्याद्यन्तमध्यादिविवर्जितोऽस्ति ॥ २३७ ॥

अर्थ—शुद्धोपयोग को धारण करने वाले और परम वीतराग अवस्था को धारण करने वाले चिदानन्दस्वरूप शुद्ध आत्माएं प्रायः मौन धारण करते हैं। यदि वे अपने शुद्ध आत्मा में परम शांति स्थापन करने के लिये कभी कुछ वचन कहते हैं तो हितरूप परिमित अत्यन्त प्रिय और परम शांति उत्पन्न करने वाले वचन कहते हैं। तथा मेरा यह आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय है, व्यवहार से सिद्ध करने योग्य है, संसार में प्रसिद्ध है। परमार्थदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, और आदि मध्य अंत तीनों से रहित है। इस प्रकार अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप निरूपण करते हैं।

भावार्थ—जब यह शुद्ध आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में लीन रहता है तब उसके शुद्धोपयोग होता है। उस समय वह कुछ भी क्रिया नहीं करता। न शरीर से कुछ क्रिया करता है, न मनसे कुछ चिंतवन करता है और न वचन से कुछ कहता है। उस समय वह सर्वथा मौन धारण करता है। परंतु उस ध्यान के अनंतर यदि वह किसी भव्य जीव से कुछ कहता है तो सब जीवों के हित करने

वाले वचन कहता है, जितने वचनों की आवश्यक्ता होती है उतने ही वचन कहता है अधिक वचन नहीं कहता। तथा सबको प्रिय लगने वाले वचन कहता है अप्रिय कटुक वा निंदनीय वचन कभी नहीं कहता। इसके सिवाय समस्त जीवों में शांति उत्पन्न करनेवाले वचन कहता है। क्षोभ उत्पन्न करनेवाले वा कषाय उत्पन्न करने वाले वचन कभी नहीं कहता। अथवा जब कभी उपदेश देने का काम पड़ता है तो उनका यही उपदेश होता है कि यह मेरा आत्मा अत्यन्त शुद्ध है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और आदि अन्त मध्य तीनों से रहित है। यद्यपि परमार्थदृष्टिसे आत्माका यही स्वरूप है तथापि संसारी जीवों को अपना आत्मा व्यवहार चारित्र धारण कर शुद्ध कर लेना चाहिये। इसी लिये इसको व्यवहार से सिद्ध करने योग्य बतलाया है। उन परम योगियोंका उपदेश इसी प्रकार का होता है।

आगे यथार्थ विजयी का स्वरूप कहते हैं।

प्रश्न—**सत्यार्थविजयी कः स्यात् वद मे सांप्रतं प्रभो !**

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसार में कौनसा विद्वान् मनुष्य यथार्थ विजयी कहलाता है।

उत्तर—**व्याघ्रस्य सिंहस्य वशं विधाता।**

शत्रोर्विजेताक्षसुखादिभोक्ता ॥

गजाश्वजः व्याः ।

परीक्षकः शोधक एव सुज्ञः ॥ २३८ ॥

दृष्टा अनेके भुवि किंतु नैव
कर्मारिजेतात्मसुखस्य भोक्ता।
शुद्धात्मरूपस्य परीक्षकश्च
शुद्धोपयोगी विरलः कृतार्थी ॥ २३९ ॥

अर्थ—इस संसार में सिंह व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं को वश करने वाले बहुत हैं, अपने प्रबल शत्रुओंको जीतने वाले भी बहुत हैं, उत्तम से उत्तम इन्द्रियोंके सुखों को भोगनेवाले भी बहुत हैं हाथी घोड़े आदि पशुओंकी परीक्षा करने वाले वा मणिरत्न पृथ्वी आदि का संशोधन करने वाले विद्वान पुरुष इस संसार में अनेक हैं परंतु कर्मोंके जीतनेवाले, आत्मसुख का उपभोग करनेवाले,अपने शुद्ध स्वरूपकी परीक्षा करनेवाले, कृतकृत्य और शुद्धोपयोग को धारण करने वाले जीव बहुत ही थोड़े हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि ऐसे जीव हैं ही नहीं।

भावार्थ—जो जीव अपने शत्रुओंको जीत लेते हैं उनको विजयी कहते हैं। जो कोई अपने आत्मा वा शरीर को दुःख देता है उसको शत्रु कहते हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी का धन लूटता है वा उसके किसी कुटुंबी को मार देता है। तो वह उसका शत्रु कहलाता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो वह जीव उसका शत्रु नहीं है किंतु इस संसार में जितना सुख दुःख होता है वह सब अपने अपने कर्मके उदय के निमित्त से होता है। यदि अशुभ कर्म का उदय न हो तो कोई किसीका धन नहीं ले सकता। अथवा कोई किसी को नहीं मार सकता। अपने अशुभ कर्म के

उदय होने पर ही कोई भी मनुष्य वा पशु पक्षी अपने को वा कुटुंबी को मार सकता है। हां, उसमें कोई न कोई निमित्त कारण अवश्य मिल जाता है। तथा वह कर्म का उदय ही उस निमित्तको मिला लेता है। इससे सिद्ध होता है कि मारनेवाला तो निमित्तमात्र है। वास्तव में मारनेवाला तो अपना कर्मरूप शत्रु है। इस लिये जो पुरुष अपने उस प्रबल कर्मरूपी शत्रु को जीत लेते हैं वे ही यथार्थ विजयी कहलाते हैं। जिस प्रकार शत्रुको जीतने वाला अनेक प्रकार की सुख सामग्री प्राप्त कर सुखका अनुभव किया करता है उसी प्रकार कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाला पुरुष भी अनंतचतुष्टयरूपी महाविभूतिको प्राप्त कर आत्मजन्य अनुपम अनंत सुखका अनुभव किया करता है। और शुद्धोपयोग को धारण करने वाला वह कृतकृत्य कहलाता है। परंतु इस प्रकार कर्मरूप यथार्थ शत्रुओं को विजय करने वाले इस संसार में मिलते नहीं है। यदि मिलते हैं तो बहुत ही विरले वा बहुत ही थोड़े मिलते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको अपने यथार्थ शत्रुओंका स्वरूप समझकर उन्हीं कर्मरूप शत्रुओं को विजय करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये और सबसे पहले मोहनीय कर्म को नाश कर शुद्धोपयोग को धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये। जिससे कि शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

आगे आत्मा का आधाराधेयभाव बतलाते हैं।

प्रश्न—**आधारः कश्च लोकेऽस्मिन् स्वात्मनो मे गुरो वद।**

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसार में इस मेरे आत्मा का आधार क्या है?

उत्तर—अनादिकर्मसंबंधादाधारः स्वात्मनो वपुः ।
अथवा पृथिवी ज्ञेया क्वचिद्बंधुजनादिकः ॥२४०॥
याथात्म्यात्स्वात्मनः स्वात्माधारो ज्ञेयो निरंजनः ।
आधेयोपि स एव स्याद् योगी जानाति शुद्धधीः ॥

अर्थ—इस संसारी जीव के साथ अनादिकालसे कर्मोंका संबन्ध लगा हुआ है। उस कर्मोंके संबंधसे देखा जाय तो इस अपने संसारी आत्माका आधार यह शरीर है। अथवा उस शरीर विशिष्ट आत्मा का आधार पृथ्वी है। तथा उस शरीरविशिष्ट आत्माके पालन पोषणकी दृष्टि से देखा जाय तो कहीं कहीं पर भाई बंधु भी इस जीव के आधार बन जाते हैं। परंतु यदि यथार्थदृष्टिसे देखा जाय तो कर्म बंधन से रहित यह अपना शुद्ध आत्मा ही इस अपने शुद्ध आत्माका आधार है। तथा यही अपना शुद्ध आत्मा आधेय है। इस आधाराधेय-भाव को शुद्ध बुद्धिको धारण करने वाले योगी ही जानते हैं।

भावार्थ—वास्तव में देखा जाय तो यह आत्मा कर्मोंसे सर्वथा रहित शुद्ध है। परंतु अनादिकालसे ही कर्मोंके बंधन में बँधा हुआ है। तथा कर्मोंके बंधनमें बँध जाने के कारण ही वह अनेक प्रकार के शरीर को धारण करता रहता है, और उस शरीर के प्रमाण के समान ही रहता है। इसलिये यदि इस दृष्टि से देखते हैं तो इस आत्मा का आधार शरीर है। क्यों कि इस शरीरमें ही आत्मा रहता है। परंतु वह शरीर मूर्त होनेसे निराधार रह नहीं सकता, इसलिये वह आत्म विशिष्ट शरीर

इस पृथ्वीपर ही रहता है अथवा लोकाकाशके किसी भी स्थान में रहता है। इसलिये इस जीवका आधार इस पृथ्वी को मानना पड़ता है अथवा इस लोकाकाश को मानना पड़ता है। इसके सिवाय इस पृथ्वी को आधार मानते हुए भी बालक अवस्था में अथवा किसी रोग की अवस्था में वा अन्य किसी निरुपाय अवस्था में वा पालन पोषण की दृष्टि से भाई-बन्धुओं को वा माता-पिताओं को भी आधार मानना पड़ता है। ये सब आधार कर्म और शरीर सहित जीव के हैं। परंतु वास्तव में देखा जाय तो शरीर और कर्म दोनों ही पौद्गलिक और जड़ स्वरूप हैं तथा यह आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप चैतन्यमय है। कर्म मूर्त हैं, आत्मा अमूर्त है। इसलिये यह आत्मा शरीर वा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है ऐसा यह अमूर्त आत्मा अपने ही प्रदेशोंमें वा अपने ही स्वरूप में रहता है इसलिये इस अपने शुद्धस्वरूप आत्मा का आधार यही अपना शुद्ध आत्मा रहता है इसलिये यही अपना शुद्ध आत्मा आधेय है। परंतु इस शुद्ध आत्मा के आधाराधेय भावको केवल शुद्ध उपयोग को धारण करने वाले योगी पुरुष ही जानते हैं। इस आधाराधय भावको संसारी जीव नहीं जानते। संसारी जीव तो व्यवहार दृष्टि में लगे रहते हैं, इसलिये वे तो पृथ्वी आदि आधार को ही जानते हैं। शुद्ध आत्मा के आधाराधेयको शुद्ध आत्माको धारण करनेवाले योगी ही जानते हैं।

आगे विश्व धर्म का निरूपण करते हैं।

शुद्धोपयोगसिद्ध्यर्थं विश्वधर्मो विवेच्यते।

अर्थ—शुद्धोपयोगकी सिद्धि के लिए गुरु स्वयं विश्वधर्मका निरूपण करते हैं।

धनस्य वुद्धेः समयस्य शक्तेः
नियोजनं प्राणिहिते सदैव।
स्याद्विश्वधर्मः सुखदोऽसुशांत्यै
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिर्विधेयः ॥ २४२ ॥
यतस्त्रिलोके स्वरसस्य पानं
स्याच्छुद्धचिद्रूपसुखस्य चर्चा।
आचन्द्रताराकमितीह कीर्ति-
गृहे गृहे मंगलगीतवाद्यम ॥ २४३ ॥

अर्थ—भव्यजीवोंको सदा काल समस्त प्राणियोंके हितके लिए ही अपने धनका उपयोग करना चाहिए, अपनी बुद्धिका उपयोग करना चाहिए, अपने समय का उपयोग करना चाहिए और अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिए। यही समस्त संसार का हित करनेवाला विश्व धर्म है। यही समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है और इसी धर्म को धारण करनेसे समस्त संसारको शांति प्राप्त होती है। यही समझकर समस्त जीवोंको इस विश्वधर्मका पालन करते रहना चाहिये। क्योंकि इस विश्वधर्म के पालन करनेसे आत्मजन्य अनुपम सुख की प्राप्ति होती है, चिदानन्द स्वरूप शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाले सुखकी प्राप्ति होती है तथा इस संसारमें जब तक तारे

और चन्द्रमा व सूर्य विद्यमान हैं तब तक कीर्ति फैलती रहती है और तब तक ही घर घरमें मंगल गान होते रहते हैं।

भावार्थ—समस्त जीवोंके कल्याण करनेकी भावना रखना सर्वोत्कृष्ट भावना है। परंतु यह भावना आत्माके कल्याण करनेकी होनी चाहिये; केवल लौकिक उपकार करनेकी भावना रखना उत्कृष्ट भावना नहीं है। संसारमें ऐसे बहुतसे जीव देखे जाते हैं जो सदाकाल दूसरों का उपकार किया करते हैं परंतु वे न तो अपने आत्माका कुछ कल्याण करते हैं और न अन्य आत्माओंका कल्याण करते हैं वे केवल दिखाऊ लौकिक उपकार किया करते हैं। तथा वे उस काममें यहां तक लीन हो जाते हैं कि वे अपना धर्म कर्म भी छोड़ देते हैं। परोपकार करनेवाले अनेक जैनी भी ऐसे देखे गये हैं जो उसी परोपकार में लगे रहनेके कारण विना छना जैसा मिले वैसा पानी पी लेते हैं, रातमें भोजन कर लेते हैं और देवदर्शन तक नहीं करते। यदि उनसे कहा जाता है तो वे यही कहते हैं कि हमें इस कामसे अवकाश ही नहीं मिलता। परंतु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह उनका परोपकार आत्मा के कल्याण का कारण नहीं है। उस थोड़े से लौकिक परोपकार से न तो अन्य जीवोंके आत्माका कल्याण होता है और न अपने आत्माका कल्याण होता है। इसलिए ऐसे लौकिक परोपकारसे आत्माका कोई कल्याण नहीं होता। इस जीवको सबसे पहले अपने आत्माका कल्याण कर

लेना चाहिये। जो आत्मा अपना कल्याण कर लेता है, अपने क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मद, मत्सर, काम आदि समस्त विकारोंको दूर कर अपने आत्माको शुद्ध बना लेता है वही आत्मा अन्य जीवोंका कल्याण कर सकता है। विकाररहित आत्मासे स्वयमेव दूसरोंकी आत्माका कल्याण हो जाता है। यहां तक कि मुनियोंकी परम निर्विकार और अत्यन्त शांतमुद्रा देखकर सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत हो जाते हैं और वे स्वयं निर्विकार होकर उन मुनिराजके समीप बैठ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्माका कल्याण विकारोंके त्याग करनेसे होता है। अतएव उन विकारोंके त्याग करने वा करानेके लिए ही अपनी सब शक्ति लगा देनी चाहिए, उन्हीं विकारों के त्याग करने करानेके लिए अपना सब धन लगा देना चाहिए, उन्हीं विकारोंके त्याग करने करानेके लिए अपनी समस्त बुद्धि और अपना समस्त समय लगा देना चाहिए। इसके सिवाय अपने पास जो कुछ है वह सब आत्माके कल्याण करने करानेमें ही लगा देना चाहिए। विकारोंका त्याग कर देने से ही आत्मा शुद्ध होता है, आत्मजन्य अनुपम सुखकी प्राप्ति होती है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव होता है और शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होकर शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यही सर्वोत्कृष्ट आत्म कल्याण है। तथा उन सिद्धोंका स्वरूप चिंतवन कर अनेक जीव मोक्षमार्गमें लग जाते हैं। यहांतक कि तीर्थंकर परमदेव

भी उन्हीं सिद्धों का स्मरण कर दीक्षा लेते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट परोपकार कहलाता है। यही समझकर सबसे पहले आत्मकल्याण में लगना चाहिए और फिर अन्य जीवोंको मोक्षमार्ग में लगाकर अन्यजीवोंका कल्याण करते रहना चाहिए। यही सबसे उत्कृष्ट अपना और दूसरोंका उपकार है, और इसीको विश्वधर्म कहते हैं।

आगे शुद्धोपयोगकी सिद्धिके लिए ध्यानका फल दिखलाते हैं।

शुद्धोपयोगसिद्ध्यर्थं फलं ध्यानस्य कथ्यते ।

अर्थ—आगे शुद्धोपयोग की सिद्धिके लिए उत्कृष्ट ध्यानका फल दिखलाते हैं।

एकाग्रचिन्ताप्रविरोधनाम ।
ध्यानं च शुक्लं सुखशांतिमूलम ॥
कुर्वन्प्रवेशं ह्यचले स्वधर्मे ।
मिष्टातिमिष्टं स्वरसं पिवन् हि ॥ २४४ ॥
शुद्धोपयोगी सहजेन साधुः ।
प्राप्नोति शुद्धां निजराजधानीम् ॥
स्वानन्दतुष्टेन सुखप्रदेन ।
श्री न्थुनाम्ना वरसूरिणोक्तम् ॥ २४५ ॥

अर्थ—समस्त चिंतवनोंको रोककर केवल अपने शुद्ध आत्मामें लीन होकर उसी अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करना शुक्लध्यान कहलाता है। यह शुक्लध्यान अनन्तसुख और अनन्त

शांति का मूल कारण है। जो ध्यानी महात्मा अपने निश्चल आत्मधर्म में लीन हो जाता है वह मीठे से मीठे शुद्धात्मजन्य अनुपम सुखका पान करता रहता है। तदनंतर वह शुद्धोपयोग को धारण करनेवाला साधु अत्यन्त शुद्ध ऐसी अपनी मोक्षरूपी राजधानी में जा पहुंचता है। इस प्रकार अपने आत्मजन्य सुखमें लीन रहनेवाले और समस्त जीवों को सुख देने वाले आचार्य चर्य श्रीकुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ—अन्य समस्त चितवनों का त्याग कर किसी एक पदार्थ का चिंतवन करना ध्यान है। उस ध्यानके चार भेद हैं आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। जो ध्यान किसी दुःखसे किया जाता है उसको आर्तध्यान कहते हैं। यह आर्त-ध्यान तिर्यंचगतिका कारण है। जो ध्यान रुद्र परिणामों से वा हिंसा झूठ चोरी रूप क्रूर परिणामों से किया जाता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं। यह रौद्रध्यान नरकका कारण है। जो ध्यान धर्म के चिंतवन से किया जाता है उसको धर्म्यध्यान कहते हैं। यह धर्म्यध्यान मनुष्य वा देवगतिका कारण है। जो ध्यान केवल शुद्ध आत्मासे किया जाता है उसको शुक्लध्यान कहते हैं। यह शुक्लध्यान मोक्षका कारण है। इस शुक्लध्यानके ही द्वारा आत्मा के घातिया कर्मोंका नाश होने से अनंतचतुष्टय की प्राप्ति होती है। तथा अनेक अतिशयोंकी प्राप्ति होती है। तद-नंतर उसी शुक्लध्यान के द्वारा वह अघातिया कर्मोंका भी नाश कर डालता है और फिर उसी समय में अपने शुद्ध आत्माकी

सदाकाल रहने वाली मोक्षरूपी राजधानीमें जा विराजमान होता है फिर वह अनंतानंतकाल तक वहींपर अनंतसुखका अनुभव करता है। मोक्षमें किसी कालमें भी किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है। यही समझकर भव्यजीवोंको आर्तध्यान और रौद्रध्यान का सर्वथा त्यागकर धर्म्यध्यानका चिंतवन करते रहना चाहिये और फिर धीरे धीरे शुक्लध्यानका अभ्यास करते रहना चाहिये। यह शुक्लध्यान ही अनंतसुखका कारण है।

आगे संक्षेप से अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों प्रकार के भावों का फल दिखलाते हैं।

संक्षेपतो वर्ण्यत एव चाथ ।
भावत्रयाणां च फलस्वरूपम् ॥

अर्थ—अब आगे अत्यन्त संक्षेपसे अशुभोपयोग शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों प्रकार के भावों का फल दिखलाते हैं।

दुःखप्रदा श्वभ्रगतिर्भवेद्वाऽ— ।
शुभोपयोगात्कुगतिस्तिरश्चाम् ॥
दरिद्रता हीननृता पशुत्वं ।
मायापिता बंधुविहीनतादिः ॥ २४६ ॥
साम्राज्यलक्ष्मीः सुखदा स्वदासी ॥
धर्मानुकूलः सुकुटम्बवर्गः ।
सुमान्यता श्रेष्ठजनैश्च पूजा ॥ २४७ ॥

शुद्धोपयोगेन निजाश्रितेन ।
स्वराज्यलक्ष्मीश्च भवेत्स्वदासी ॥
गतिः स्थितिः सौख्यमये स्वधर्मे ।
चिदात्मके स्वात्मरसे हि तृप्तिः ॥ २४८ ॥
एवं नृणां कारणकार्यभेदाद्– ।
भवेद्धि भेदः खलु तत्फलेऽपि ॥
नानान्यथादः सुखदः सदैव ।
शंका न कार्या विषये किलास्मिन् ॥ २४९ ॥

अर्थ—अशुभोपयोगका फल दुःख देनेवाली नरकगतिका प्राप्त होना है, वा नीच तिर्यंच गतिका प्राप्त होना है, अथवा दरिद्रताका होना, नीच मनुष्य होना, पशु होना, मायाचारीपना करना और भाई बंधुओंसे रहित होना आदि सब अशुभोपयोगका फल है। शुभोपयोगके फल से नीरोग शरीर प्राप्त होता है। सुख देनेवाली साम्राज्य लक्ष्मी अपनी दासी हो जाती है। धर्म के अनुकूल चलने वाले कुटुंबकी प्राप्ति होती है, और उत्तम मान्य मनुष्योंके द्वारा मान्यता तथा पूज्यता प्राप्त होती है। केवल अपने शुद्धात्मा के आश्रित रहनेवाले शुद्धोपयोगके फलसे मोक्षरूप स्वराज्य लक्ष्मी भी अपनी दासी हो जाती है, अनंत सुखमय आत्मा के शुद्धस्वरूप आत्मसुखमें अनंत तृप्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार मनुष्यों के कारण कार्यके भेदसे उनके फलोंमें भी भेद हो जाता है

किसी कारण कार्य का फल अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला होता है और किसी कारण कार्य का फल सुख देनेवाला होता है। इस विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—इस संसारमें नरक निगोदादिकके जितने दुःख हैं, तिर्यंच और मनुष्ययोनिमें जितने दुःख हैं, चाहे वे शारीरिक दुःखहों चाहे मानसिक दुःख हों, चाहे आकस्मिक दुःख हों, और चाहे कौटम्बिक दुःख हों, वे सब दुःख अशुभोपयोग से ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार इस संसारमें जितने सुख हैं, चाहे वे सुख धनसे प्राप्त होनेवाले हों, चाहे इन्द्रियोंसे प्राप्त होने वाले हों, चाहे कुटुंबसे प्राप्त होनेवाले हों और चाहे अन्य किसी प्रकार से उत्पन्न होने वाले हों सब इन्द्रियजन्य सुख वा सांसारिक सुख शुभोपयोग से प्राप्त होता है। शुद्धोपयोगका फल मोक्ष है। इसी प्रकार कारण के भेद से कार्य में भेद अवश्य हो जाता है। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है।

आगे सब ग्रंथका सारांश बतलाते हैं।

> कौ केवलं क्लेशकरोऽस्ति निंद्यो- ।
> शुभोपयोगो विषवद्व्यथादः ॥
> शुभोपयोगो स्वसुखप्रदोऽस्ति ।
> शुद्धोपयोगो निजसौख्यदाता ॥ २५० ॥
> ज्ञात्वेति मुक्त्वा ह्यशुभोपयोगं ।
> क्वचित्प्रवृत्तिश्च शुभोपयोगे ॥

...वन्सदा तिष्ठतु सर्वलोकः ।
शुद्धोपयोगे हि ममापि चात्मा ॥ २५१ ॥

अर्थ—इस समस्त ग्रंथ का सार यह है कि इस संसारमें अशुभोपयोग अत्यन्त क्लेश उत्पन्न करनेवाला है, अत्यन्त निंदनीय है और विष के समान दुःख देनेवाला है। तथा शुभोपयोग इन्द्रियजन्य सुखों को देनेवाला है और शुद्धोपयोग अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनंतसुखको देनेवाला है। यही समझकर अशुभोपयोग का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और अन्त में जाकर समस्त जीवों को शुद्धोपयोगमें स्थिर हो जाना चाहिये। इसी प्रकार मेरा यह आत्मा भी इसी शुद्धोपयोग में सदाकाल स्थिर रहे ऐसी मैं भावना करता हूं।

भावार्थ—इस ग्रन्थमें अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों उपयोगों का फल दिखलाया है। इन तीनों उपयोगोंमें से अशुभोपयोग तो सर्वथा त्याग करने योग्य है। इसलिये उसका तो सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिये। शुद्धोपयोग यद्यपि त्याग करने योग्य है तथापि जबतक शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नहीं होती तबतक शुभोपयोग में अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिये। शुभोपयोगमें प्रवृत्ति रखते हुए भी शुद्धोपयोग का अभ्यास करते रहना चाहिये। और शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होने पर शुभोपयोगका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इस संसार में शुद्धोपयोग ही मोक्षका सुख देने वाला है, शेष के शुभोपयोग और अशुभोपयोग

दोनों ही संसार के कारण हैं। इस प्रकार आत्माका हित करनेवाला और मोक्षके अनंत सुख देनेवाला एक शुद्धोपयोग ही है। अतएव समस्त जीव इसी शुद्धोपयोग को प्राप्तकर इसीमें सदाकाल स्थिर बने रहें तथा मेरा आत्मा भी इसी शुद्धोपयोग को प्राप्त कर सदाकाल इसीमें स्थिर बना रहे। ग्रन्थकर्ता आचार्य कुंथुसागर स्वामी ऐसी ही भावना करते हैं।

आगे ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं।

एवं यथावत्कथितं स्वरूपं।
भावत्रयाणां सकलात्मशुद्ध्यै ॥
स्वानन्दतुष्टेन तमोहरेण।
श्रीकुन्थुनाम्ना वर सूरिणात्र ॥ २५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करनेवाले और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में वा आत्मजन्य सुख में संतुष्ट रहनेवाले आचार्यवर्य मुझ श्री कुंथुसागर स्वामी ने समस्त जीवोंकी आत्माओं को शुद्ध करने के लिये अशुभोपयोग शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों भावों का यथार्थ स्वरूप इस ग्रन्थमें निरूपण किया है।

भावार्थ—अनेक प्रकारसे अशुभोपयोगका फल दिखलाया है, अनेक प्रकारसे शुभोपयोग का फल दिखलाया है, और अनेक प्रकार से शुद्धोपयोग का स्वरूप दिखलाया है। तथा समस्त जीव शुभोपयोग वा अशुभोपयोग का त्यागकर शुद्धोपयोग धारण कर अपने आत्मा को शुद्ध बनावें और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करलें इसी

अभिप्राय से इनका स्वरूप दिखलाया है। इनको जानकर समस्त भव्यजीवों को शुद्धोपयोग धारण करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये यही इस ग्रन्थ के निरूपण करनेका अभिप्राय है। इति शम्।

इति श्रीआचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचिते
भावत्रयफलप्रदर्शिनाम्नि ग्रन्थे
शुद्धोपयोगवर्णनो नाम
तृतीयोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्य श्री कुंथुसागर विरचित भावत्रयफल
प्रदर्शी नामके ग्रन्थकी "धर्मरत्न" पं. लालाराम
शास्त्री विरचित सरल हिंदी भाषा टीकामें
शुद्धोपयोगको वर्णन करनेवाला
यह तीसरा अध्याय
समाप्त हुआ।

अथ प्रशस्तिः ।

आगे प्रशस्ति लिखते हैं ।

दीक्षागुरोः शान्तिसुधाकरस्य ।
कृपाप्रसादात्सुखशान्तिदातुः ॥
विद्यागुरोरेव सुधर्मसिंधो ।
राबालवृद्धादिविबोधनार्थम् ॥ २५३ ॥
भावत्रयाणां च फलप्रदर्शी ।
ग्रन्थो मयायं लिखितो मनोज्ञः ॥
आचार्यवर्येण विचक्षणेन ।
श्रीकुन्थुनाम्नात्मरतेन नित्यम् ॥ २५४ ॥

अर्थ—सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहनेवाले और अत्यन्त बुद्धिमान् ऐसे आचार्यवर्य मुझ श्री कुंथुसागर स्वामी ने शुभोपयोग अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों भावोंके फलको दिख-लानेवाला यह मनोहर ग्रन्थ सुख और शान्ति को देनेवाले और चन्द्रमा के समान महाशांत ऐसे आचार्यवर्य मेरे दीक्षा गुरु श्रीशांतिसागर स्वामीकी परम कृपा के प्रसाद से लिखा गया है तथा मेरे विद्यागुरु आचार्यवर्य श्री सुधर्मसागरकी परम कृपा के प्रसाद से लिखा गया है। और बालक वृद्ध वा युवा सब ही जीव पढ़कर अपने आत्मा का कल्याण करें। इसी अभि-प्राय से यह ग्रन्थ लिखा गया है।

भावार्थ—आचार्यवर्य श्री शांतिसागरजी महाराज मेरे दीक्षा गुरु हैं तथा आचार्यवर्य श्रीसुधर्मसागरजी महाराज मेरे विद्यागुरु हैं। इन दोनों परम वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओं की कृपासे ही मैंने इस ग्रंथको समाप्त किया है।

> ग्रंथं ह्यमुं वांच्छितदं सदा ये।
> स्मरन्ति गायन्ति पठन्ति मर्त्या॥
> स्वर्मोक्षलक्ष्मीं क्रमतो लभन्ते।
> यथार्थविद्यां सुगुरोश्च भक्ताः॥ २५५॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ गुरुओंके भक्त इच्छानुसार फल देनेवाले इस ग्रंथको सदाकाल पढ़ते हैं स्मरण करते हैं वा इसको गाते हैं वे पुरुष यथार्थ विद्याको प्राप्त होते हैं और अनुक्रम से स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—इस ग्रंथ को पठन पाठन करनेका फल आत्माके शुद्धस्वरूपका ज्ञान होना है और अंतिम फल स्वर्गोंके सुख भोग कर मोक्ष लक्ष्मी का प्राप्त होना है। अतएव इस ग्रंथ का पठन पाठन अवश्य करते रहना चाहिये।

आगे ग्रंथकार अपनी लघुता दिखलाते हैं।

> ग्रंथे क्वचिन्मे स्खलनं भवेच्चेत्।
> बुधा यतीशाः खलु शोधयित्वा॥
> पठन्तु नित्यं परिपाठयन्तु।
> ग्रंथस्य भावोऽस्ति च कर्तुरस्य॥ २५६॥

अर्थ—मेरे अज्ञान वा प्रमाद से यदि ग्रंथ में कोई भूल रह गई हो तो बुद्धिमान मुनियों को उसका संशोधन कर लेना चाहिये और फिर सदाकाल उसका पठन पाठन करते रहना चाहिये। इस ग्रंथकी रचना करने वाले का यही अभिप्राय है।

भावार्थ—हम लोग अल्पज्ञ हैं। अल्पज्ञोंसे भूल होना स्वाभाविक है। इसलिये यदि इसमें किसी छंद मात्रा अक्षर वा किसी अभिप्रायकी भूल हो तो पंडित मुनीश्वरोंको उसका संशोधन कर लेना चाहिये और फिर उसका पठन पाठन करना चाहिये।

आगे ग्रंथ रचना का समय और स्थान बतलाते हैं।

मोक्षं गते महावीरे विश्वशांतिविधायके।
चतुर्विंशति संख्याते सप्तषष्ठ्यधिके शते ॥ २५७ ॥

पौषशुक्लचतुर्दश्यां शुभे च रविवासरे।
भारते गुर्जर देशे सुन्दरे सादरापुरे ॥ २५८ ॥

भावत्रयफलानां हि प्रदर्शी सर्वदेहिनाम्।
ग्रंथोऽयं लिखितो भव्यो भव्यानां बोधहेतवे ॥२५९॥

प्रणेता ग्रंथरत्नानां आचार्यः कुन्थुसागरः।
मोक्षमार्गप्रदीपाद्यनेकेषां बोधकारिणाम् ॥ २६० ॥

अर्थ—अपने आत्मामें लीन रहनेवाले आचार्य श्रीकुंथुसागर स्वामी ने आत्मज्ञान उत्पन्न करनेवाले भव्योंको ज्ञानप्राप्तिके लिये मोक्ष मार्ग-

प्रदीप आदि अनेक ग्रंथरत्नों की रचना की है। तथा उन्हीं श्रीकुंथु-सागरस्वामी ने समस्त संसार में शांति उत्पन्न करने वाले भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जानेके अनंतर चौवीससौ सडसठवें वर्षके पौष शुक्ला चतुर्दशी रविवारके दिन भारतवर्ष के अंतर्गत गुजरात देश के सादरा नगर के जिन चैत्यालय में समस्त जीवों को अशुभोपयोग शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन तीनों भावों के फलको दिखलानेवाला भावत्रयफलप्रदर्शी नाम के सुन्दर ग्रंथ की रचना समाप्त की है।

भावार्थ—आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरने चतुर्विंशतिस्तोत्र, मोक्षमार्गप्रदीप, सुधर्मोपदेशामृतसार, शांतिसुधासिंधु, प्रतिक्रमणसार ज्ञानामृतसार, बोधामृतसार, श्रीशांतिसागरचरित्र आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। उन्हीं आचार्य श्रीकुंथुसागरस्वामी ने इस भावत्रयफलप्रदर्शी ग्रंथकी रचना की है। यह रचना पौष शुक्ला चतुर्दशी रविवार के दिन वीर निर्वाण संवत चौवीससौ सडसठवें वर्ष में हुई है तथा सादरा नगर में समाप्त हुई है।

आगे अंतिम मंगलाचरण करते हैं।

शान्तिनाथः सदा जीयाज्जगच्छान्तिविधायकः।
सर्वे भव्या परां शांति लभेरन् तत्प्रसादतः ॥ २६१ ॥

अर्थ—समस्त संसारमें परमशांति उत्पन्न करनेवाले सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ परमदेव सदाकाल जयशील बने रहें। तथा उन्हीं भगवान् शांतिनाथ के प्रसाद से समस्त भव्यजीव मोक्ष रूप परमशांति को प्राप्त हों।